आचार्यवर

प्रोफ़ेसर ज्यूल ब्लाक

की

पुण्य स्मृति

को

सादर समर्पित

वक्तव्य

व्रजभापा का प्रस्तुत अध्ययन इसी नाम के मेरे फ्रेंच में प्रकाशित थीसिस "ला लाँग-व्रज" का हिंदी रूपान्तर है जिस पर मुझे पेरिस विश्वविद्यालय ने १९३५ में डाक्टरेट दी थी।

इस पुस्तक में मध्यकालीन साहित्यिक व्रजभाषा तथा आधुनिक बोलचाल की व्रजभापा दोनों का प्रथम विस्तृत अध्ययन है। मध्यकालीन साहित्यिक व्रजभापा की सामग्री प्रधानतया १६ वीं, १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी ईसवी के लगभग डेढ़ दर्जन प्रतिनिधि व्रजभापा लेखकों की कृतियों से संकलित की गई है (दे० अनु० ६७-६९)। आधुनिक व्रजभापा की सामग्री व्रजप्रदेश के गाँवों से व्रजभापा बोलने वाली जनता के मुख से १९२८-३० ई० में की गई कई यात्राओं में मैंने स्वयं एकत्रित की थी (दे० अनु० ७३-७४)। मेरी अपनी मातृभापा व्रजभाषा का ही पूर्वी रूप होने के कारण मैंने अपनी वोली के ज्ञान से भी पूर्ण सहायता ली है। लेखक गाँव शकरस, तहसील वहेड़ी, ज़िला वरेली का निवासी है।

पुस्तक के प्रारंभिक अध्यायों में व्रजप्रदेश, व्रजवासी जनता, व्रजभापा साहित्य तथा आधुनिक व्रजभापा की स्थिति का परिचय दिया गया है। भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव व्रजभापा के विकास पर किस प्रकार पड़ा इसका मौलिक विवेचन इस अंश में मिलेगा। व्रजभापा के रूपों के संवंध में अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भापाओं के रूपों के साथ तुलनात्मक परिस्थिति का परिचय भी पहली वार इस ग्रंथ में मिलेगा। व्रजभापा के रूपों से संवंधित ऐतिहासिक सामग्री जानवूझ कर नहीं दी गई है क्योंकि इसमें विशेप मौलिकता के लिए अव स्थान नहीं रह गया है।

व्रजप्रदेश से एकत्रित विस्तृत सामग्री में से प्रत्येक प्रदेश के कुछ चुने हुए उदाहरण परिशिष्ट में दिए गए हैं तथा अंत में पुस्तक में आए हुए समस्त व्रजभापा के शव्दों की अनुक्रमणी है। ये दोनों ही अंश मूल फ्रेंच थीसिस में नहीं थे, इस हिंदी रूपान्तर में पहली वार दिए जा रहे हैं। प्रारंभ में व्रजप्रदेश का एक मानचित्र भी दे दिया गया है। इसके लिए मैं अपने सहयोगी डा० जगदीश गुप्त का आभारी हूँ।

व्रजभापा का प्रस्तुत अध्ययन मैंने १९२१ ई० में प्रारंभ किया था और अनेक अड़चनों और कठिनाइयों के उपरान्त १९३५ ई० में पूरा कर सका था। इससे पूर्व हिंदी की इस प्रमुख वोली का परिचयात्मक संक्षिप्त वर्णन मिर्जा खां, लल्लूलाल तथा ग्रियर्सन की कृतियों में किया गया था। मैंने स्वयं एक संक्षिप्त व्रजभापा व्याकरण थीसिस की सामग्री के आधार पर प्रकाशित किया था। आज भी इस स्थिति में विशेप अन्तर नहीं हुआ है।

ग्रंथ का अनुवाद तैयार करने में मुझे अपने सहयोगी श्री उमाशंकर शुक्ल तथा रिसर्च स्कालर श्री केशवचन्द्र सिनहा से विशेष सहायता मिली। यदि इन्होंने अत्यंत परिश्रम करके अनुवाद का प्रथम प्रारूप तैयार न कर दिया होता तो कदाचित् यह हिंदी रूपान्तर कभी प्रकाश में न आ सकता। शब्दानुक्रमणी मेरे एक अन्य स्कालर श्री भोलानाथ तिवारी के परिश्रम का फल है। मैं इन सब का अत्यंत आभारी हूँ। अनुवाद में, विशेषतया प्रारंभिक अध्यायों में, जो शैली संबंधी त्रुटि है उसका उत्तरदायित्व मुझ पर है।

आशा है हिंदी में उपलब्ध हो जाने से व्रजभाषा के इस मौलिक अध्ययन का उपयोग अब हिंदी विद्वान्, विद्यार्थी तथा पाठक सुविधा पूर्वक कर सकेंगे। संभव है कि इस ग्रंथ के प्रकाशन से हिंदी की अन्य शेष बोलियों के वैज्ञानिक अध्ययन के संबंध में हिंदी भाषा के विद्यार्थियों को प्रेरणा मिले।

विजयदशमी, १९५४ — धीरेन्द्र वर्मा

संक्षिप्त रूप

क. जिलों तथा उपप्रदेशों की सूची

(जिनसे आधुनिक व्रजभाषा के अध्ययन की सामग्री एकत्रित की गई)

अ०	अलीगढ़
आ०	आगरा
इ०	इटावा
ए०	एटा
क०	करौली
का०	कानपुर
ग्वा० प०	ग्वालियर : पश्चिम
ज० पू०	जयपुर : पूर्व
धौ०	धौलपुर
पी०	पीलीभीत
फ़०	फ़रुख़ाबाद
बदा०	बदायूँ
ब०	बरेली
बु०	बुलंदशहर
भ०	भरतपुर
म०	मथुरा
मैं०	मैनपुरी
शा०	शाहजहाँपुर
ह०	हरदोई

ख. व्रजभाषा ग्रंथों की सूची

(जिनसे मध्यकालीन साहित्यक व्रजभाषा की सामग्री एकत्रित की गई)

केशव० केशवदास : रामचन्द्रिका
(केशव कौमुदी, सं० भगवानदीन, प्र० लाला रामनरायणलाल, इलाहाबाद, सं० १९८६; उदाहरणों में अंक प्रकाश तथा छंदसंख्या के द्योतक हैं)

गोकुल०	गोकुलनाथ	: चौरासी वैष्णवन की वार्ता (अष्टछाप, सं० धीरेन्द्र वर्मा, प्र० लाला रामनरायण लाल, इलाहाबाद, १९२९ ई०; अंक पृष्ठ तथा पंक्ति-संख्या के द्योतक हैं)
घना०	घनानंद	: सुजान सागर (सेलेक्शन्स फ्राम, हिंदी लिटरेचर पुस्तक ६, भाग २, सं० सीताराम, प्र० कलकत्ता यूनीवर्सिटी, १९२६ ई०; अंक छंदसंख्या के द्योतक हैं)
तुलसी०	तुलसीदास	: कवितावली तथा गीतावली (तुलसी ग्रंथावली, भाग २, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, सं० १९८०; अंक छंद अथवा पदसंख्या के द्योतक हैं)
दास०	भिखारीदास	: काव्य निर्णय (प्र० भारत जीवन प्रेस, बनारस, १८९९ ई०; अंक पृष्ठ तथा छंदसंख्या के द्योतक हैं)
देव०	देवदत्त	: भावविलास (प्र० भारत जीवन प्रेस, बनारस, १८९२ ई०; अंक विलास तथा छंदसंख्या के द्योतक हैं)
नंद०	नंददास	: रासपंचाध्यायी (सं० बालमुकुन्द गुप्त, प्र० भारत जीवन प्रेस, बनारस, १९०४ ई०; अंक अध्याय तथा छंदसंख्या के द्योतक हैं)
नरो०	नरोत्तमदास	: सुदामाचरित (सं० भगवानदीन, प्र० साहित्य सेवक कार्यालय, बनारस, सं० १९८४; अंक छंदसंख्या के द्योतक हैं)
नाभा०	नाभादास	: भक्तमाल (सं० सीताराम सरन, प्र० नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १९१३ ई०; अंक छंदसंख्या के द्योतक हैं)
पद्मा०	पद्माकर	: जगत्विनोद (प्र० भारत जीवन प्रेस, बनारस, १९०१ ई०; अंक पृष्ठ तथा छंदसंख्या के द्योतक हैं)
बिहारी०	बिहारीदास	: सतसई (बिहारी रत्नाकर, सं० जगन्नाथ दास रत्नाकर, प्र० गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, सं० १९८३; अंक दोहासंख्या के द्योतक हैं)

भूपण०	भूपण	: शिवराज भूषण (भूषणग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, प्र० रामनरायण लाल, इलाहाबाद, १९३० ई०; अंक छंदसंख्या के द्योतक हैं)
मति०	मतिराम	: रसराज (मतिराम ग्रंथावली, सं० कृष्णविहारी मिश्र, प्र० गंगा-पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, सं० १९८३; अंक छंदसंख्या के द्योतक हैं)
रस०	रसखान	: रसखान पदावली (प्र० हिंदी प्रेस, इलाहाबाद; अंक छंदसंख्या के द्योतक हैं)
लल्लू०	लल्लूलाल	: राजनीति (प्र० नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १८७५ ई०; अंक पृष्ठ तथा पंक्तिसंख्या के द्योतक हैं)
लाल०	गोरेलाल	: छत्रप्रकाश (सं० श्यामसुन्दर दास तथा कृष्ण वलदेव वर्मा, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, वनारस, १९१६ ई०; अंक पृष्ठ तथा पंक्तिसंख्या के द्योतक हैं)
सूर० मा०, य०, वि०	सूरदास	: सूरसागर (प्र० नवल किशोर प्रेस लखनऊ, माखन चोरी, यमुना स्नान, विनय पद; अंक पदसंख्या के द्योतक हैं)
सेना०	सेनापति	: कवित्तरत्नाकर (साहित्य समालोचक, अप्रैल १९२५, सं० कृष्णविहारी मिश्र; अंक द्वितीय तरंग की छंदसंख्या के द्योतक हैं)
हित०	हितहरिवंश	: सिद्धान्त और हित चौरासी (ब्रजमाधुरीसार, सं० वियोगीहरि; अंक पदसंख्या के द्योतक हैं)

विशेष लिपिचिह्न

अ	ऺ	उदासीन स्वर	
इ॰		फुसफुसाहट वाली	इ
उ॰		फुसफुसाहट वाला	उ
ऎ	ॆ	ह्रस्व	ए
एॅ	ॅ	अर्द्ध विवृत	ए
ए़		मध्य स्वर	
ऒ	ॊ	ह्रस्व	ओ
ऑ		अर्द्ध विवृत	ओ
च़्‌		स्पर्श-संघर्षी	च्
ज़्‌		स्पर्श-संघर्षी	ज्
झ़्‌		संघर्षी	झ्
ट़्‌		वर्त्स्य	ट्
ड़्‌		वर्त्स्य	ड्
थ़्‌		संघर्षी	थ्
द़्‌		संघर्षी	द्

विषय-सूची

(कोष्ठक के अंक अनुच्छेद के द्योतक हैं)

परिशिष्ट

१. मध्यदेश तथा व्रज प्रदेश

१. भौगोलिक दृष्टि से व्रज प्रदेश अपने आस-पास के प्रदेश से अलग नहीं है, अतएव इस क्षेत्र की प्रकृति समझने के लिए इसकी स्थिति का वर्णन कर देना आवश्यक होगा।

हिमाच्छादित ऊँचे उत्तरी पर्वत तथा उससे संबद्ध उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व में फैली हुई पर्वत श्रेणियाँ भारतवर्ष को शेष यूरेशिया महाद्वीप से अलग कर देश की एक विशेष संस्कृति के विकास में सहायक हुई हैं। इन्हीं उत्तरी पर्वतों के समानान्तर मनुष्यों के बसने योग्य पहाड़ियों की निचली श्रेणियाँ तथा विस्तृत घाटियाँ हैं। यहीं पर काश्मीर, गढ़वाल, कुमायूं, नेपाल आदि प्रदेश स्थित हैं। यह भूभाग उन तीन प्रसिद्ध भूभागों में से एक है जिनमें साधारणतया भारतवर्ष विभक्त किया जाता है। इस पहाड़ी भाग के दक्षिण में प्राचीन काल में आर्यावर्त्त[1] के नाम से पुकारा जाने वाला गंगा-सिंधु का विस्तृत मैदान है, जिसका दक्षिणी अर्द्धभाग क्रमशः ऊँचा होता हुआ विंध्य की पहाड़ियों में मिल जाता है। विंध्याचल के वाद धुर दक्षिण का त्रिकोण ऊँचा पठारी भाग है।

२. गंगा-सिंधु का मैदान दोनों नदियों अर्थात् सिंधु तथा गंगा के मैदानों में विभक्त हो कर आर्यावर्त्त के दो स्वाभाविक भाग बनाता है। गंगा के मैदान का पश्चिमी अर्द्ध भाग जो आर्यावर्त के मध्य भाग में पड़ता है बहुत प्राचीन समय से मध्यदेश[2] कहलाता रहा है। हिंदी मध्यदेश की वर्तमान भाषा है। प्राचीन मध्यदेश आजकल निम्नलिखित प्रमुख राज्यों में विभक्त है :—पूर्वी पंजाब का पूर्वी भाग, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, विंध्य प्रदेश, मध्य प्रदेश, मध्यभारत, अजमेर, तथा राजस्थान। उत्तरप्रदेश उपर्युक्त हिंदी भाषी संघ का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है।

३. मध्यदेश कुछ विशेष भौगोलिक सीमाओं से घिरा हुआ है। उत्तर में हिमालय की तराई ऊपर कहे गए हिमालय के निचले भागों से इसे अलग करता है। किंतु तराई

---

[1] आर्यावर्त्त की अनेक परिभाषाओं में से एक के लिए देखिए, मनुस्मृति २-२२; सूत्र साहित्य के उल्लेखों के लिए देखिए, कीथ : वैदिक इंडेक्स।

[2] मध्यदेश शब्द की उत्पत्ति के लिए देखिए लेखक का 'मध्यदेश का विकास' शीर्षक लेख, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ३, सं० १। मनु के अनुसार मध्यदेश की पूर्वी सीमा प्रयाग थी (२, १७-२४)। विनयपिटक, महावग्ग ५, १३, १२ के आधार पर यह सीमा कजंगल तक थी, जो बिहार में भागलपुर के बाद माना जाता है। यहाँ मध्यदेश शब्द का प्रयोग बौद्ध काल के अर्थ में अर्थात् उसके पूर्ण विकसित रूप के लिए किया गया है।

का भाग इतनी वाधा नहीं उपस्थित करता कि वह पार ही न किया जा सके। इसीलिए हिमालय के निचले भागों में, जहाँ मध्यदेश के लोग बस गए हैं, हिंदी से मिलती जुलती बोलियाँ पाई जाती हैं। हिमालय पर्वत की मुख्य श्रेणियाँ अवश्य पहुँच के वाहर हैं अतएव हिमालय के दूसरी ओर की संस्कृति तथा भाषाएँ, पर्वत के दक्षिणी भाग की संस्कृति तथा भाषाओं से नितान्त भिन्न हैं। तराई का भाग तो सदैव अपनी सीमाएँ वदलता रहा है। आज भी हम पाते हैं कि तराई के जंगलों को साफ़ कर जहाँ खेती के योग्य बनाया जा रहा है वहाँ हिंदी भाषी उत्तर की ओर बढ़ते जा रहे हैं। उदाहरण के लिए बरेली ज़िले में, जो ब्रज-क्षेत्र की उत्तरी सीमा है, वहाँ के निवासी पिछले ३०, ४० वर्षों में लगभग २० मील आगे तक इस प्रदेश में उत्तर की ओर बढ़ गए हैं। यहाँ यह बता देना अनुपयुक्त न होगा कि प्राचीन मध्यदेश के अनेक शक्तिशाली बौद्ध राज्य तथा नगरों के भग्नावशेष आज तराई के जंगलों में स्थित हैं। श्रावस्ती इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। हिमालय के दक्षिणी पार्श्व पर अधिक वर्षा होने के कारण यहाँ वनस्पति की उत्पत्ति प्रचुर मात्रा में होती है और यदि इस वनस्पति को निरंतर नष्ट न किया जाय, तो इसका प्रसार दक्षिण की ओर बढ़ता चला जाता है।

४. मध्यदेश की दक्षिणी सीमा उतनी अधिक स्पष्ट नहीं है। यमुना के ठीक दक्षिण से ही विशिष्ट भौगोलिक लक्षण भिन्न रूप में दृष्टिगत होते हैं। उपजाऊ मैदान के स्थान पर हमें पथरीली चट्टानी भूमि मिलने लगती है, जिसमें स्थान स्थान पर विन्ध्याचल की छोटी छोटी पहाड़ियाँ हैं। यहाँ खेती के योग्य भूमि कम है, इसीलिए आवादी भी कम है। गंगा के मैदान तथा दक्षिणी भूमिभाग का अंतर दोनों की जनसंख्या के घनत्व की तुलना से स्पष्ट प्रकट होता है। गंगा के मैदान की जनसंख्या उत्तरप्रदेश में ८०० से लेकर ५०० तक प्रति वर्ग मील है; विंध्यप्रदेश, मध्यभारत, तथा मध्यप्रदेश के उत्तरी भागों में यह १५० से लेकर १०० तक प्रति वर्ग मील है; तथा राजस्थान में यह १०० प्रति वर्ग मील से भी कम है।

किन्तु गंगा के मैदान की ओर से यह भूभाग यातायात के लिए बिल्कुल खुला हुआ है। इस मिले हुए समस्त दक्षिणी भाग की नदियों का वहाव उत्तर की ओर है तथा वे सब अन्त में गंगा में आकर मिलती हैं। इस भूभाग की प्रकृति पहाड़ी होने के कारण यहाँ की नदियाँ नाव चलाने योग्य तो नहीं हैं किन्तु इस भाग तथा गंगा के मैदान के बीच याता-यात के लिए उनकी घाटियाँ सुगम पथ अवश्य बनाती हैं। इस क्षेत्र की जनसंख्या नदियों की घाटियों में केवल एक ही स्थान पर नहीं मिलती है वलिक पठार में स्थान स्थान पर बिखरी हुई है। पहाड़ियों द्वारा इस पथरीले प्रदेश का विभाजन अनेक भागों में हो गया है। किसी प्रकार का भी आतंक होने पर, चाहे वह आर्थिक हो या राजनैतिक अथवा धार्मिक, गंगा के मैदान के निवासी देश के इसी भाग में शरण खोजने के लिए जाते रहे हैं। मध्य-भारत विंध्य प्रदेश तथा राजस्थान के अनेक हिंदू राज्यों की नींव ऐसे ही राजपूत वंशों के द्वारा पड़ी थी, जो किसी समय गंगा के मैदानों में राज्य करते थे और जिन्हें बारहवीं शताब्दी के वाद होने वाले राजनैतिक परिवर्त्तनों के कारण अपना मूल निवास स्थान छोड़ देना पड़ा था।

वास्तव में आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा जो पहले विंध्य तक थी अब इस विस्तार के कारण बदल गई है। हिंदी बोलने वालों ने विंध्य के उस पार न केवल नर्मदा की घाटी में ही अपना अधिकार स्थापित कर लिया है, बल्कि और भी दक्षिण में फैल गए हैं। उदाहरणार्थ महानदी के उत्तरी मैदान में छत्तीसगढ़ प्रदेश में इन्होंने उपनिवेश सा बना लिया है। राजस्थान में अरावली के उस पार दक्षिण-पश्चिम में मारवाड़ के रेगिस्तान में तथा कुछ अंशों में गुजरात तक गंगा की घाटी की संस्कृति के प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रवेश दिखलाई पड़ता है। यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि भौगोलिक दृष्टि से विंध्य के पार पहुँचने के लिए गुजरात का प्रदेश सब से अधिक सुगम है इसीलिए बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का उपनिवेश सा रहा है।

५. पश्चिमी सीमा की कोई स्पष्ट विभाजक रेखा न होने पर भी सीमा है। यह सिंधु तथा गंगा के मैदानों के बीच में प्राचीन काल की सरस्वती नदी के किनारे किनारे मानी जा सकती है। सरस्वती के पश्चिम में पंजाबी तथा पूर्व में हिन्दीभाषी प्रदेश है। सरस्वती और यमुना के बीच का भाग सरहिंद कहलाता है। मध्यदेश का यह पश्चिमोत्तरी सीमांत प्रदेश है इसीलिए विशेष महत्त्वपूर्ण रणक्षेत्र, जैसे कुरुक्षेत्र और पानीपत, यहीं स्थित हैं। मध्यदेश तथा शेष भारत पर एकाधिपत्य पाने के लिए इन्हीं स्थानों पर अनेक बार घोर युद्ध हुए हैं। प्राचीन संस्कृत साहित्य में, उदाहरण के लिए महाभारत में, इस प्रदेश में घने जंगलों का ज़िक्र मिलता है तथा यह भी उल्लेख है कि इन जंगलों को काट कर इस भूमि भाग को आबादी के योग्य बनाया गया था।[1]

सरहिंद तथा उससे मिला हुआ गंगा यमुना के दोआब का उत्तरी भाग वह हिस्सा है जो पंजाब के कुछ कम कट्टर भूभाग के सर्वाधिक निकट है। यह भाग अपनी स्थिति के कारण ग्यारहवीं शती के बाद लगभग ६०० वर्षों तक विदेशी आक्रमणों का अड्डा बना रहा। इसी भाग में विदेशी मुस्लिम शासकों ने दिल्ली को अपनी राजधानी बना कर शताब्दियों तक मध्यदेश तथा शेष भारत पर राज्य किया। फिर मध्यदेश के अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्रों जैसे मथुरा, अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि से यह सब से अधिक दूर पड़ता है। यही कारण है कि हिंदी भाषी होने पर भी इस प्रदेश की भाषा, रीति-रिवाज तथा लोगों के रहन सहन में हम पंजाबीपन तथा इस्लामी प्रभाव अधिक पाते हैं।

६. मध्यदेश के पूर्व में कोई प्राकृतिक रुकावट नहीं है। बिहार में वर्तमान भागलपुर के बाद, जहाँ विंध्यमाला के प्रसार से मैदान के अत्यन्त सँकरीले मार्ग बन जाने के कारण गंगा कुछ उत्तर की ओर मुड़ती है, गंगा के मैदान की पहली पूर्वी सीमा कही जा सकती है। इस स्थान के पूर्व में हम गंगा के मुहाने का प्रारंभ पाते हैं, जो दक्षिणी बंगाल का दलदली भाग बन जाता है। सरहिंद में स्थित अम्बाला से लेकर बिहार में भागलपुर तक की दूरी लगभग ७५० मील है। एक ओर इस दूरी के कारण इस विस्तृत क्षेत्र में हमें विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयाँ मिलती हैं, किन्तु साथ ही इस क्षेत्र की विशिष्ट प्राकृतिक रचना के कारण यातायात में सुविधा होने के फलस्वरूप ये इका-

---

[1] महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १८, खाण्डवदाह।

इयाँ कहीं भी एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् नहीं होने पाई हैं। बनारस के बाद एक हल्की विभाजक रेखा मानी जा सकती है, जहाँ से मैदान का सँकरापन प्रारम्भ होता है, यद्यपि यह स्थान उतना अधिक सँकरा नहीं है जितना कि भागलपुर के पूर्व का स्थान है।

इस हल्की विभाजक रेखा के उस पार वर्तमान विहार में, जो किसी समय बौद्ध धर्म का केन्द्र था, हम मध्यदेश का पूर्वी भाग पाते हैं। इस रेखा के पश्चिम में मध्यदेश का पश्चिमी तथा मध्य भाग है। वास्तव में भागलपुर तक गंगा के मैदान में किसी भी प्रकार का विभाजन एक प्रकार से स्वेच्छित ही कहा जायगा। आर्यावर्त्त के मध्यदेश अथवा वर्तमान हिंदी प्रदेश के पृथक् अस्तित्व का यही प्रधान कारण रहा है। यद्यपि इस विस्तृत क्षेत्र के दोनों छोरों पर एक दूसरे से भिन्न रहन-सहन तथा रस्म-रिवाज मिल जायँगे, किन्तु यह पता लगाना कि किस विशेष स्थान पर एक इकाई का अन्त होता है तथा दूसरी का प्रारम्भ होता है एक प्रकार से कठिन ही है। गंगा के मैदान की संस्कृति का यह प्रवाह पूर्व की ओर बढ़ता है इसका मुख्य कारण गंगा तथा उसकी सहायक अन्य कई स्थायी नाव चलाने योग्य नदियों का होना है जो उसी दिशा की ओर बहती हैं। एक समय जब कि नदियाँ हीं यातायात की प्रमुख साधन थीं, उनके महत्त्व को नहीं भुलाया जा सकता। नहरों के बन जाने के कारण इन नदियों में से अनेक अब वर्षा ऋतु को छोड़ कर अन्य ऋतुओं में नाव चलाने योग्य नहीं रह गई हैं। किन्तु यह परिवर्तन उस युग में हो रहा है जब नए याता-यात के साधनों के हो जाने के कारण नदियों का इस दृष्टि से महत्त्व विशेष नहीं रह गया है।

७. उपर्युक्त पृष्ठभूमि में ब्रजभाषा क्षेत्र की स्थिति को समझना सरल हो जायगा। यह मध्यदेश के दक्षिण पश्चिम में है। इस प्रदेश का अधिकांश उत्तरी-पूर्वी भाग गंगा-यमुना के दोआब में पड़ता है तथा गंगापार तराई तक चला गया है। इसका दक्षिणी-पश्चिमी भाग विंध्य भूमि का एक अंश है, जो मध्यभारत तथा राजस्थान तक फैला हुआ है। यमुना तट पर बसे हुए मथुरा और वृन्दावन इस दूसरे खण्ड के अधिक निकट हैं, इसी कारण ब्रज का लगाव कोसल काशी से कहीं अधिक राजस्थान तथा बुन्देलखंड से है। ब्रज, बुन्देली और पूर्वी राजस्थानी का अन्तर वास्तव में केवल मात्रा का ही है। उत्तर में ब्रज-प्रदेश धीरे धीरे सरहिंद में मिल जाता है, जो प्राकृतिक रूप में उसी मैदान का एक भाग है। किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है सरहिंद में पंजाबी तथा विदेशी प्रभाव अत्यधिक मात्रा में मिलने लगते हैं। नैमिषारण्य (लखीमपुर-खेरी जिले का वर्तमान नीमसारन जहाँ प्रसिद्ध महाभारत की रचना हुई थी) से लेकर रामायण के प्रयाग वन अर्थात् वर्तमान इलाहाबाद तक इस क्षेत्र में जंगलों की एक पेटी सी थी। यह जंगल बहुत प्राचीन समय में ही काट डाले गए थे, इसलिए मध्यदेश के पश्चिम और मध्यभाग की यह विभाजक रेखा अस्पष्ट हो गई थी। इस प्राचीन वन के कुछ चिह्न आज भी पलाश वृक्षों की पेटी के रूप में खेरी, सीतापुर, हर-दोई और फतेहपुर जिलों में पाए जाते हैं। इस क्षेत्र में जन संख्या का घनत्व भी कम है। इस पेटी के पूर्व और पश्चिमी भागों की जनसंख्या ८०० से लेकर ५०० मनुष्य प्रति वर्ग मील हैं किन्तु पेटी की जनसंख्या प्रति वर्ग मील ५०० से लेकर ३०० तक ही है।[१]

---

[१] भारत की जनगणना रिपोर्ट सन् १९३१, जिल्द १, भाग १, पृष्ठ ६।

मध्यदेश का पश्चिमी भाग किसी समय एक पृथक् इकाई के रूप में था, इस बात का पता इसके 'ब्रह्मर्षिदेश' नाम से भी चलता है। यह नाम कुरु, पञ्चाल, शूरसेन और मत्स्य जनपदों के समूह का था।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रज-क्षेत्र को किसी भी ओर से विभाजित करने वाली कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है। विभाजक अंग प्राकृतिक से कहीं अधिक सांस्कृतिक है और इन पर आगे विचार किया जायगा।

२. व्रजवासी जनता

राजनीतिक परिवर्तन

८. व्रज क्षेत्र प्राकृतिक रूप में जिस प्रकार शेष मध्यदेश से अलग नहीं है, इसी प्रकार इस क्षेत्र की जनता की भी कोई पूर्णतया पृथक् सांस्कृतिक इकाई नहीं है। उसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि मध्यदेश के सांस्कृतिक इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा समझी जावे। मध्यदेश की जनता, जिनका मदेसिया (मध्यदेशीय) नाम आज भी नेपाल में सुनाई पड़ जाता है, बहुत प्राचीन समय से अनेक जनपदों में विभक्त थी। जनपद कदाचित आर्यों के 'जन' अथवा टोलियों के उपनिवेश थे जो मुख्यतया गंगा, यमुना और सरयू के किनारे सुविधानुसार, कुछ कुछ दूरी पर बसे थे। गौतम बुद्ध[2] के समय तक इनका पृथक् अस्तित्व था।

मध्यदेश में गंगा के किनारे तीन प्रमुख जनपद थे, जो कुरु, पञ्चाल और काशी नाम से प्रसिद्ध थे। शूरसेन और वत्स यमुना के किनारे थे तथा कोशल सरयू के किनारे था। मत्स्य और चेदि विंध्य प्रदेश में क्रमशः शूरसेन और पञ्चाल के दक्षिण में थे। वश और उशीनर हिमालय के दक्षिणी भाग में थे किन्तु राजनीतिक दृष्टि से ये अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थे। इनमें से कुछ जनपदों को साथ मिला कर भी पुकारा जाता था। कुरु-पंचाल तथा कोसल-काशी का नाम बहुधा साथ साथ आता है। इस बात का ऊपर उल्लेख हो चुका है कि चार पश्चिमी जनपद अर्थात् कुरु, पञ्चाल, शूरसेन और मत्स्य सामूहिक रूप में ब्रह्मर्षिदेश के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे।

९. सम्पूर्ण आर्यावर्त तक और बीच बीच में उसके बाहर भी फैलने वाले साम्राज्यों के उत्कर्ष के फलस्वरूप गौतम बुद्ध के बाद जनपदों की पृथक् राजनीतिक सत्ता लुप्त हो गई। इन साम्राज्यों में सब से पहला साम्राज्य मौर्यों का था, जिनकी राजधानी पाटलिपुत्र थी, दूसरा साम्राज्य गुप्त वंश का था जिसने बाद में पाटलिपुत्र से हटा कर अपनी राजधानी अयोध्या बनाई थी, तथा तीसरा साम्राज्य सम्राट् हर्षवर्द्धन का था जिन्हें सरहिंद में स्थित स्थानेश्वर---वर्तमान थानेसर---से हट कर अपनी बहिन के राज्य की देखभाल करने के लिए प्राचीन पंचाल में स्थित कान्यकुब्ज (कन्नौज) आना पड़ा था। सम्राट् हर्षवर्द्धन का साम्राज्य लगभग मध्यदेश के जनपदों तक ही सीमित था। मुसलमानों के आने से पहले अधिकांश ठेठ मध्यदेश गहरवार वंश द्वारा कन्नौज से शासित होता था, जिनकी

---

[1] मनु० २-१९। [2] विनयपिटक, २, १४६।

दूसरी राजधानी काशी थी। पश्चिम में दिल्ली का चौहान राज्य था, जो अपने अंतिम दिनों में अजमेर तक फैला हुआ था। दक्षिण में महोबा राज्य था, जो यमुना के दक्षिण में सम्पूर्ण निकटवर्त्ती विंध्यभूमि पर छा गया था।

विदेशी मुसलमान शासकों ने मध्यदेश में अपना नया साम्राज्य स्थापित कर पहले दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया किन्तु बाद में राजस्थान, तथा बुन्देलखण्ड के राजाओं पर अधिक नियंत्रण रखने के लिए उन्हें राजधानी दिल्ली से हटा कर व्रजप्रदेश में आगरा में बनानी पड़ी (१५०२ ई०)। सुल्तान तथा मुगलों का साम्राज्य मध्यदेश के भी बाहर सम्पूर्ण आर्यावर्त में फैला हुआ था, और कुछ समय तक तो दक्षिण के भी कुछ भाग पर उसका अधिकार हो गया था। मुगल सम्राट् अकबर के समय में साम्राज्य कई सूबों में बाँट दिया गया था। मध्यदेश में मुख्य सूबे दिल्ली, आगरा, अवध और इलाहाबाद थे।

१०. अठारहवीं शताब्दी में, अर्थात् मुगल साम्राज्य के अंतिम दिनों में, अवध स्वतंत्र राज्य में परिणत हो गया। दक्षिण का अधिकांश भाग भी या तो किसी हिंदू राजा के संरक्षण में आ गया अथवा मराठों ने छीन लिया। मध्यभारत के ग्वालियर (सिंधिया) तथा इन्दौर (होल्कर) राज्य मध्यदेश में मराठों की विजय के चिह्न थे। विंध्यभूमि के पूर्वी भाग के रीवाँ, छतरपुर, पन्ना आदि के राज्य स्थानीय हिन्दू राजाओं की स्वतंत्रता के स्मृति-चिह्न थे। इसी प्रकार के कुछ अन्य राज्य जैसे भरतपुर, धौलपुर, करौली आदि राजस्थान के अंग बन गए थे।

११. मुगल शक्ति के क्षीण हो जाने पर मध्यदेश में राजनीतिक सत्ता के लिए मराठों तथा अंग्रेज़ों में संघर्ष हुआ। मराठों का दबाव दक्षिण की ओर से था। यहाँ तक कि अब नाममात्र को मुगलों की राजधानियाँ कहे जाने वाले दिल्ली तथा आगरा जैसे नगरों में भी उनका बोलबाला हो गया था।

उधर अंग्रेज़ पूर्व की ओर से गंगा के निचले मैदानों से धीरे धीरे बढ़ रहे थे। उत्तर-पश्चिम से प्रवेश करने वाले एक नवीन मुसलमान आक्रमणकारी अहमदशाह अब्दाली ने सरहिंद में पानीपत के मैदान में (१७६१ ई०) मुगलों की शक्ति छिन्न-भिन्न कर दी थी, दूसरी ओर प्लासी के युद्ध की सफलता (१७५७ ई०) के बाद ही बक्सर की विजय ने (१७-६४ ई०) वास्तव में अंग्रेज़ों को मध्यदेश के पूर्वी भाग का स्वामी बना दिया था। लासवारी के युद्ध (१८०३) के बाद तो पश्चिमी मध्यदेश भी अंग्रेज़ों के हाथों में चला गया था। १८५६ ई० के बाद अवध को मिला कर आगरा तथा अवध के संयुक्त प्रांत के नाम से नये प्रांत का निर्माण किया गया था। दिल्ली, जो हिन्दी भाषी प्रदेश का एक भाग है, बहुत दिनों तक एक ब्रिटिश एजेन्ट (१८०३-१८५८ ई०) के संरक्षण में रहा। १८५८ ई० में इसे पंजाब में मिला दिया गया था, किन्तु (१९११ ई० में) इसे एक अलग प्रान्त बना दिया गया था। मध्यदेश का विंध्य भाग पहले संयुक्त प्रान्त के पुराने रूप उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त (१८३५-१८६१) के अंतर्गत था, किन्तु बाद में मध्य प्रान्त के नाम से (१८६१ ई०) यह भी एक अलग प्रान्त बना दिया गया था। इस प्रकार अंग्रेजी शासन में मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश की जनता तीन या चार राजनीतिक प्रान्तों में विभक्त कर दी गई थी अर्थात् दिल्ली, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त तथा बिहार।

१२. मध्यदेश में होने वाली राजनीतिक उथल-पुथल की उपर्युक्त रूप-रेखा से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्रज प्रदेश अथवा प्राचीन शूरसेन जनपद ने अपनी राजनीतिक सत्ता खो दी थी और वह उत्तर और पूर्व में केन्द्र रखने वाले राज्यों का एक साधारण अंग मात्र रह गया था। मुगल साम्राज्य के अंतिम दिनों में जब राजधानी दिल्ली से उठ कर व्रज प्रदेश में अर्थात् आगरा में आई तब राजनीतिक दृष्टि से एक वार फिर लोगों का ध्यान व्रज प्रदेश की ओर आकृष्ट हुआ। यह स्मरण रखना चाहिए कि आगरा मुगल साम्राज्य का एक प्रान्त था इसलिए इस क्षेत्र का पृथक् अस्तित्व हो गया था, जैसा कि बाद के नामकरण संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध से स्पष्ट होता है। राजधानी के आगरा हो जाने से शासकों के द्वारा स्थानीय बोली की संरक्षिता पर प्रभाव पड़ा। यह प्रवृत्ति एक प्रकार से पड़ोस के हिन्दू राजाओं तथा मराठा शासकों के दरबारों तक में आ गई थी।

सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था

१३. मध्यदेश कृषि प्रधान प्रदेश है। इसकी ९०% जनता छोटे गाँवों में या खेतों के बीच बसे हुए पुरवों में बसती है, तथा जीविका के लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर ही निर्भर रहती है। तराई में बहुत जंगल हैं और दक्षिणी विंध्य भाग में खनिज पदार्थों का बाहुल्य है। किंतु प्राचीन अथवा मध्यकाल में इस सामग्री का इस प्रकार कभी उपयोग नहीं किया गया था कि इन क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण उद्योग-धंधे विकसित हो जाते। गंगा का मैदान इतना अधिक उपजाऊ है और फिर उसकी सुन्दर जलवायु के कारण लोगों की आवश्यकताएँ इतनी कम हैं कि जीविका के लिए उन्हें अन्य किसी साधन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। इस आर्थिक व्यवस्था के कारण प्राचीन काल से ही मध्यदेश की जनता को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसके अतिरिक्त कृषि के व्यवसाय में यह असम्भव है कि लोग उसे छोड़ कर अधिक समय के लिए इधर-उधर जा सकें। गंगा के मैदान में दो फसलें होती हैं—एक वर्षा ऋतु में तथा दूसरी जाड़ों में। ये क्रम से मुख्य रूप से चावल तथा गेहूँ की होती हैं। जाड़े की फसल के बाद वसन्त ऋतु में जब कृषकों को थोड़ा सा अवकाश मिलता है तो होली आदि कुछ प्रधान धार्मिक तथा सामाजिक उत्सव मनाए जाते हैं। जून के अंत में बरसात प्रारंभ हो जाती है और किसान फिर कृषि सम्बन्धी कार्यों में लग जाते हैं। खेतों को जोत-बो चुकने के बाद उन्हें थोड़ा अवकाश अवश्य मिलता है किन्तु अधिक वर्षा होने के कारण नदियों में बाढ़ आ जाती है और कच्ची सड़कों पर चलना कठिन हो जाता है, इसलिए बाहर निकलना असम्भव हो जाता है। चौमासा (चतुर्मास्य अर्थात् जून से सितम्बर तक) तो अब भी ग्रामीणों द्वारा ऐसा समय समझा जाता है जब लोग बाहर न जा कर घर में ही आनन्द मनाते हैं तथा व्यायाम आदि के द्वारा स्वास्थ्य-लाभ करते हैं। वर्षा ऋतु की फसल तैयार करने तथा उसे काटने के उपरांत किसान को फिर थोड़ा सा अवकाश मिलता है, और इसीलिए जाड़े की ऋतु के प्रारम्भ (अक्टूबर-नवम्बर) में अनेक प्रकार के सामाजिक तथा धार्मिक मेले होते हैं। ये सब मेले आर्थिक पक्ष भी रखते हैं, जिनमें अधिकांश में वाणिज्य की महत्त्वपूर्ण हाटें लगती हैं। गाँव की आवश्य-

कता के प्राय: सभी सामान जैसे ढोर, गाड़ियाँ, वर्तन, महीन वस्त्र, आभूषण, कृषि सम्बन्धी औज़ार इत्यादि इन धार्मिक सम्मेलनों के नाम पर लगने वाले मेलों में मिल जाते हैं। वास्तव में इनके आर्थिक तथा धार्मिक दोनों ही पक्ष होते हैं। सुदूर सम्बन्धियों से मिलने का अवसर भी इनमें मिल जाता है। किन्तु इस समय भी किसान एक पखवारे अथवा एक मास से अधिक समय के लिए बाहर नहीं रह सकता, क्योंकि जाड़ा आ जाने से उसे आगे आने वाली फ़सल की तैयारी करनी पड़ती है। इस प्रकार हजारों वर्षों से मध्यदेश की अधिकांश जनता का जीवन-चक्र इसी प्रकार अनवरत रूप से चल रहा है।

यातायात के साधनों की कठिनाई के कारण प्राचीन तथा मध्यकाल में बहुत दूर की यात्रा संभव नहीं हो सकती थी। अधिक से अधिक यात्रा का स्थान दस दिनों की दूरी वाला हो सकता था। यह यात्रा पैदल, बैलगाड़ी या नाव से होती थी, जिन सबकी गति प्राय: एक सी ही रहती है। साधारण औसत से चलने वाला व्यक्ति एक दिन में १० मील पैदल चल सकता है, इस प्रकार यात्रा की दूरी लगभग १०० मील ठहरती है। फिर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि लौटने में भी १० दिन का समय लगेगा। इसके अतिरिक्त १०० मील चल कर लगभग एक सप्ताह विश्राम करना तथा यात्रा का आनन्द लेना भी आवश्यक होगा। इस प्रकार एक मास का अवकाश समाप्त हो जाता है। फलस्वरूप अधिकांश मेले लगभग १०० मील की परिधि के लोगों को खींच लेते रहे हैं। वर्तमान समय में यातायात की सुविधा, विशेषतया रेल और बस के कारण, परिस्थिति में परिवर्तन हो रहा है, किन्तु निर्धनता के कारण सर्व साधारण इन सुविधाओं से अधिक लाभ नहीं उठा पा रहा है। उच्च वर्ग के लोग ही इन नवीन साधनों का विशेष उपयोग अधिक करते हैं। यह भी सत्य है कि समस्त आर्यावर्त के लिए और बाद में सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए भी ऐसे सामाजिक-धार्मिक मेले लगते थे, जिनके मुख्य केन्द्र तीर्थस्थान थे, जैसे बद्रीनारायण, हरद्वार, मथुरा, अयोध्या, काशी, प्रयाग, गया, द्वारिका, जगन्नाथ और रामेश्वरम्। इनमें से अधिकांश स्थान मध्यदेश में ही स्थित हैं। किन्तु इन स्थानों में भी बहुत दूर के गाँवों की जनसंख्या के यात्रियों का प्रतिशत अत्यंत न्यून रहता रहा है और जनसंख्या का यह नगण्य भाग भी शायद अपने जीवनकाल में केवल एक ही बार अपनी अभिलाषा की पूर्ति कर पाता रहा है। इसलिए साधारण जनता पर इन अखिल भारतीय केन्द्रों का प्रभाव अधिक नहीं पड़ सकता था।

१४. मध्यदेश के जनपदों में लगभग १०० मील के अर्द्ध व्यास को लेकर अथवा २०० मील की दूरी पर एक बड़ा नगर रहा है जिसे पुर कहते थे। यह नगर जनपद की राजधानी होता था और राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं वरन् पड़ोस के जनपदों के लेन देन का बाज़ार होने के कारण आर्थिक दृष्टि से भी महत्व रखता था। कुछ पुर धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हो गए थे, जैसे मथुरा, अयोध्या तथा काशी। राजधानी में उच्चकोटि के साहित्य तथा बहुमूल्य कला को भी संरक्षण मिलता था। इस प्रकार इन नगर विशेष पर जनपद की जनता की दृष्टि केन्द्रित रहती थी, और उस क्षेत्र विशेष की सांस्कृतिक एकता बनाए रखने में जनपद की यह राजधानी महत्त्वपूर्ण हाथ रखती थी। किन्तु इन पुरवासियों (पौर, नागर, शहरुआ लोगों) का जीवन तो रेगिस्तान में नख-

लिस्तान की भाँति पृथक्, अपने में पूर्ण तथा ऐसे स्तर का होता था जो साधारण ग्रामवासी की पहुँच के वाहर था। इसी कारण गंगा के मैदान में हम दो प्रकार का जीवन पाते रहे हैं—एक तो ग्रामीण संसार जो प्राकृतिक जीवन के अधिक निकट है, दूसरा शहर का जीवन जिसके प्रत्येक व्यवहार में कृत्रिमता तथा कलात्मकता अधिक रहती है। कुछ साधारण समानताओं को छोड़ कर ग्रामीण (जानपद) और नागरिक (पौर) जीवन में सर्वदा एक गहरी सांस्कृतिक खाई रही है। यह स्मरण रखना चाहिए कि नगरों की जनसंख्या किसी भी जनपदी क्षेत्र में अधिक नहीं रही। उत्तर प्रदेश में ५००० जनसंख्या वाले नगरों को मिला कर भी यह संख्या १९३१ ई० में केवल ११% थी, किन्तु उच्च संस्कृति की उत्पत्ति में उनकी देन अवश्य अधिक रही है—विशेषतया मध्यकाल तथा आधुनिक काल में। वास्तव में मध्यदेश अथवा शेष भारत का भी इतिहास मुख्यतया केवल ३% या ४% नागरिक जनता का, वल्कि उनमें से भी शासक वर्ग अथवा साहित्यिक परिवारों के मुट्ठी भर थोड़े से लोगों का इतिहास है।

१५. मध्यदेश में वड़े-वड़े साम्राज्य स्थापित हो जाने पर और उसके वाद विदेशी संस्कृति वाले आक्रमणकारियों द्वारा राजनीतिक तथा धार्मिक उथल पुथल होने पर भी यहाँ के जीवन की व्यवस्था में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं आया। गाँव का जीवन, यहाँ तक कि १५० वर्षों के अंग्रेजों के राज्य के वाद भी, इस समय वीसवीं शती में लगभग उसी परंपरागत गति से चला जा रहा है। इस अपरिवर्तनशीलता के मूल में आर्थिक कारण इतने गहरे हैं कि गाँव के सामाजिक ढाँचे में किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं हो पाता है। विदेशी प्रभाव प्रायः वड़े नगरों तक ही सीमित रह जाता है, जहाँ की जनसंख्या १०% से भी कम है। यह सत्य है कि विदेशी शासन कालों में मध्यदेश की गाँव की जनता का विशेष आर्थिक शोषण हुआ है, और अधिक निर्धनता के कारण उस मात्रा में गाँव के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में अधिक विशृंखलता आ गई है। मुस्लिम शासन काल में तो सम्पत्ति शाही राजधानी में केन्द्रित हो जाया करती थी, और क्योंकि यह राजधानी मध्यदेश में ही स्थित होती थी इसलिए कम से कम कुछ धन फिर गाँवों में लौट जाता था। किन्तु अंग्रेजी साम्राज्य काल में सम्पत्ति का अधिक भाग शिक्षित कहे जाने वाले वर्ग के माध्यम से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में देश के वाहर चला जाता था। यहां यह स्मरण दिलाना उचित होगा कि पौराणिक, मुसलमान तथा अंग्रेजी साम्राज्यकालों में प्रान्तीय केन्द्र भी वरावर रहे। मुसलमान काल के सूवों की राजधानी तथा अंग्रेजी-भारत के ज़िले अथवा कमिश्नरियों के प्रधान नगरों का लगभग वही स्थान था जो प्राचीन समय में जनपद के पुर का होता था। आज भी इस परिस्थिति में अंतर नहीं हुआ है।

१६. आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थतियों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यदेश में वोलियों के इतने भेद क्यों पाए जाते हैं। समाज का आर्थिक ढाँचा हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि इस विभाजन की उत्पत्ति का मूल कारण आर्यों के

उपनिवेशों अथवा जनपदों के रूप में गंगा की घाटी[1] में सर्वप्रथम था। ब्रज प्रदेश भी इसी प्रकार का एक क्षेत्र है, जिस पर उपर्युक्त सभी बातें घटित होती हैं। यह क्षेत्र आगरा या मथुरा को केन्द्र मान कर यमुना के दोनों ओर लगभग १०० मील तक फैला हुआ है। जैसा ऊपर कहा गया प्रारम्भ में मथुरा राजनीतिक तथा धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, यद्यपि अब उसका महत्त्व केवल धार्मिक ही रह गया है। आगरा मुग़ल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में एक नवीन राजनीतिक तथा सामाजिक केन्द्र बन गया था। ब्रजप्रदेश के उत्तर में स्थित दिल्ली, एक विश्व विख्यात नगर होते हुए तथा ८०० वर्षों तक भारतीय विदेशी साम्राज्यों की राजधानी रहते हुए भी, ब्रज क्षेत्र को विशेष प्रभावित नहीं कर सका। दक्षिण में ग्वालियर और जयपुर ब्रज क्षेत्र के आगरा तथा मथुरा के सांस्कृतिक केन्द्रों से प्रभावित हुए हैं। सम्भवतः इनमें आदान और प्रदान दोनों ही विशेष होते रहे हैं।

पूर्व की ओर कन्नौजी क्षेत्र पर ब्रज के प्रभाव का विशेष विस्तार धार्मिक तथा राजनीतिक दोनों ही कारणों में खोजा जा सकता है। निकटवर्ती सम्पूर्ण पूर्वी क्षेत्र मथुरा-वृन्दावन के कृष्ण सम्प्रदाय के प्रभाव के अन्तर्गत आगया था। वर्ष में एक बार लोग बड़ी संख्या में कृष्णभक्ति से संबद्ध इन स्थानों को जाते थे तथा इनसे पद साहित्य लेकर घर लौटते थे जिसका प्रभाव वर्ष भर बना रहता था। यहाँ तक कि ब्रज क्षेत्र के उत्तर-पूर्व की सीमा पर स्थित लेखक के गाँव तक में इन दोनों रूपों में धार्मिक प्रभाव आज भी मिलता है। कुछ वर्ष पहले तक जब लोगों की आर्थिक दशा कुछ अधिक अच्छी थी और वर्तमान आर्थिक तथा सामाजिक उथल पुथल ने लोगों को आक्रान्त नहीं किया था यह प्रभाव और भी अधिक था। बारहवीं शताब्दी के अन्त में मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा कन्नौज नगर के नष्ट हो जाने के उपरान्त विदेशी शासनों के पूर्वी क्षेत्र में किसी नगर का न रह जाना ही कदाचित् ब्रज क्षेत्र के प्रभाव का पूर्व की ओर फैलने का मुख्य राजनीतिक कारण था। यातायात की सुविधा के कारण यह क्षेत्र सीधे दिल्ली अथवा आगरा से नियंत्रित हो सकता था, इसलिए विदेशी शासकों ने इस स्थान पर दूसरा राजनीतिक केन्द्र बनाना प्रारम्भ में आवश्यक नहीं समझा। कन्नौज का मुस्लिम संस्करण फर्रुखाबाद नगर प्रसिद्धि नहीं पा सका। अवध के नियंत्रण के लिए उनके केन्द्र कुछ पूर्व की ओर हटे हुए फैजाबाद अथवा लखनऊ थे तथा अवध के दक्षिणी भाग के लिए इस प्रकार के नगर फतेहपुर, कड़ा तथा इलाहाबाद थे। किन्तु इन सब कारणों के रहते हुए भी केवल दूरी के कारण ब्रज का पूर्वी क्षेत्र कुछ निजी विशेषताएँ बनाए रहा। इनमें से कुछ भाषागत विशेषताएँ साहित्यिक ब्रजभाषा की अंग स्वरूप हो गई थीं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि दिल्ली से शाही राजधानी को उठा कर आगरा ले जाने से चारों ओर के लोगों का ध्यान

---

[1] इस विषय में विस्तृत सुझाव के लिए देखिए लेखक का 'Identity of the Present dialect-areas of Hindustan with the ancient Janapadas. शीर्षक लेख—इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, भाग १ (१९२५)

ब्रज प्रदेश की ओर आकृष्ट होने में सहायता मिली थी। किसी राजनीतिक अथवा व्यवसायिक उद्देश्य से आगरा आने वाले हिंदू मथुरा-वृन्दावन के धार्मिक केन्द्रों के अवश्य दर्शन करते थे, इसी प्रकार मथुरा-वृन्दावन आनेवाले यात्री प्रायः आगरा भी जाते थे।

१७. किसी धार्मिक अथवा राजनीतिक केन्द्र में यातायात के अभाव ही उस स्थान की विशेष सामाजिक प्रवृत्तियों एवं रहन सहन के विकास के लिए उत्तरदायी रहा है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था भारत में जाति-भेद रही है, जिसने विदेशियों द्वारा देश के अधिकृत हो जाने पर समाज को सुरक्षित बनाए रखा। सामाजिक रक्षा की दृष्टि से इस समय विवाह, भोजन तथा 'हुक्का-पानी' आदि के कुछ कड़े नियम बने। साधारण समान बातों के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में पाए जाने वाले जाति-भेद के ढाँचे में हमें कुछ ऐसी स्थानीय विलक्षणताएँ मिलती हैं जो उसी क्षेत्र विशेष में ही पाई जाती हैं। बहुत सी ऐसी उपजातियाँ मिलती हैं जिनका नाम किसी स्थान अथवा नगर विशेष के आधार पर पड़ा है। उदाहरण के लिए ब्रज प्रदेश से संबंधित माथुर ब्राह्मण और माथुर कायस्थ ऐसी ही उपजातियाँ या बिरादरियाँ हैं, जो ब्राह्मण तथा कायस्थ जातियों के बीच अपनी निजी इकाई रखती हैं। कन्नौज का प्राचीन केन्द्र, जो हिन्दू राज्यकाल के अंतिम भाग में बहुत शक्तिशाली राज्य था, ब्राह्मणों के बीच कान्यकुब्ज उपजाति के लिए उत्तरदायी है। इसी प्रकार कदाचित् एटा जिले के बौद्ध नगर संकिसा के नाम पर कायस्थों में एक सक्सेना नामक उपजाति बन गई। इस प्रकार की उपजातियों की विवाह तथा खान-पान सम्बन्धी सीमाएँ स्थिर हो गई। मुस्लिम शासन काल की सांस्कृतिक उथल-पुथल भी पूर्व तथा पश्चिम ब्रज-क्षेत्र में बने इन सामाजिक समूहों की इकाइयों में ऐक्य स्थापित न कर सकी, क्योंकि दूरी के अधिक होने के कारण सम्पूर्ण क्षेत्र में उचित सामाजिक देख रेख नहीं संभव थी। इसके अतिरिक्त ऐसी सामाजिक दुर्दशा के काल में रक्षा के लिए अन्य किसी प्रकार का परिवर्तन करना सम्भव नहीं था, जब कि देश में न तो अपना कोई राष्ट्रीय शासक था और न जनता के पथ-प्रदर्शन के लिए अपनी सरकार ही थी। क्षेत्र विशेष की बोलियों का संगठन भी इन्हीं स्थानीय उपजातियों द्वारा स्थिर रहा। माथुर उपजातियाँ, जिनमें साधारणतया आपस में ही विवाह होते रहे, इस बात के लिए बाध्य रहती हैं कि बोली की एकता सुरक्षित रखें। इसी प्रकार की परिस्थिति ब्रज क्षेत्र की पूर्वी उपजातियों के समूहों की है। इस प्रकार ११ वीं, १२ वीं शताब्दियों में जो सामाजिक ढांचा बना था वही आज भी चल रहा है, क्योंकि जिस स्थिति में उसकी उत्पत्ति हुई थी वह अब तक पूर्ण रूप से नहीं बदली है। आधुनिक काल में गाँवों के आर्थिक जीवन में लौट-पौट होने तथा शहरों में अंग्रेजी शिक्षा और सुधार आन्दोलनों द्वारा नवीन विचारों के प्रभाव से ऐसी अवस्था उत्पन्न हुई है जिसमें कि समाज का नया ढांचा पुरानी परम्परा को हटा कर उसका स्थान ग्रहण कर लेगा। किन्तु अब तक तो इसका व्यावहारिक रूप प्रायः नगण्य सा ही रहा है। सोचने वाले वर्ग के विचार-जगत् पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा है।

१८. छोटे-छोटे रीति-रिवाजों तथा रहन-सहन के ढंगों में भी भिन्न-भिन्न जनपदी

प्रदेशों में अन्तर पाया जाता है। विवाह अथवा अन्य अवसरों पर कुछ ऐसी स्थानीय रीतियाँ प्रचलित हैं, जो उसी क्षेत्र विशेष तक ही सीमित होती हैं। पहनावे में, विशेषतया स्त्रियों के पहिनावे में, स्थानीय विशेषताएँ मिलती हैं। ब्रज प्रदेश का कमर के नीचे का स्त्रियों का पहनावा लहँगा अथवा घाघरा है। यह पहनावा ब्रजभाषा से संबंधित अन्य प्रदेशों—उत्तरी पहाड़ी प्रदेश तथा राजस्थान और बुन्देलखण्ड—में भी प्रचलित है। अवध से धोती अथवा साड़ी का चलन प्रारम्भ होता है जो पहनने के ढंग में कुछ रूपान्तरों के साथ पूर्व में बंगाल तक प्रचलित है। भोजन में पंजाब की भाँति ब्रज क्षेत्र में गेहूँ और राजस्थान के समान बाजरे की प्रधानता है। अवध में तथा पूर्व में चावल की बहुलता है। अवध का स्थानीय वृक्ष महुआ ब्रज में पाया ही नहीं जाता। आम अवश्य समस्त मध्यदेश का राष्ट्रीय वृक्ष है, जो राजस्थान अथवा पहाड़ी प्रदेशों को छोड़ कर, जहाँ जलवायु के कारण यह नहीं हो सकता है, सम्पूर्ण देश में पाया जाता है। कदाचित् मुसलमानों के अधिक सम्पर्क में रहने के कारण अथवा वैष्णव संप्रदायों के उदार प्रभावों के कारण पश्चिमी मध्यदेश में भोजन विषयक उतनी अधिक कट्टरता नहीं है। प्राचीन उदार आर्य संस्कृति की परंपराएँ भी इसके मूल में हो सकती हैं। इस संबंध में पूर्व मध्यदेश अधिक कट्टर तथा संकुचित है। इसका कारण उसका मुसलमानी केन्द्रों से दूर होना हो सकता है तथा साथ ही काशी के प्रभाव का निकट होना हो सकता है, जो सनातनी कट्टर हिंदू परंपरा का केन्द्र रहा है। पश्चिमी मध्यदेश के लोग पूर्वी लोगों की अपेक्षा स्नान आदि व्यक्तिगत स्वच्छता की ओर कम ध्यान देते हैं। यह बात सम्भवतः जलवायु—पश्चिमी प्रदेश के अधिक ठण्डा होने के कारण—तथा मध्यकाल में मुसलमानों से अधिक सम्पर्क इन दोनों ही कारणों से हो सकती है। इसी प्रकार साधारण आदतों तथा रहन-सहन में भी कुछ बारीक अन्तर पाये जाते हैं।

१९. यह जानना रोचक होगा कि ब्रज क्षेत्र के उत्तर का सरहिंद अर्थात् प्राचीन कुरु जनपद इसी प्रकार की दूसरी सांस्कृतिक इकाई है, जिसमें पंजाबी तथा इस्लामी प्रभाव हिंदी प्रदेश में सब से अधिक पाये जाते हैं। पंजाबी की भाँति यहाँ की बोली में द्वित्व व्यंजनों की प्रवृत्ति, हिंदू स्त्रियों द्वारा भी पायजामे का पहना जाना, दूसरी जाति के लोगों के बनाए भोजन को स्वीकार करने में अधिक कट्टरता का न होना इत्यादि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिसे साधारण दर्शक भी भली प्रकार देख सकता है। भौगोलिक निकटता के अतिरिक्त गंगा तट पर इसी क्षेत्र में हरद्वार की स्थिति पंजाबी प्रभाव के इस क्षेत्र में प्रवेश कराने का दूसरा महत्वपूर्ण कारण रही है। पंजाबी हिंदुओं की तीर्थ यात्रा का हरद्वार सब से महत्वपूर्ण स्थान है जहाँ ये वर्ष में कई बार गंगा में स्नान करने के लिए एकत्रित होते हैं और इस प्रकार निकट के दिल्ली, मेरठ, मुरादाबाद, मुजफ्फरनगर आदि जिलों से व्यापारी तथा वहाँ की जनता अपने इन पश्चिमी पड़ोसियों के सम्पर्क में निरन्तर आती रहती है। इस क्षेत्र के पूर्व में मध्यदेश में मुस्लिम शासन काल का अन्तिम अवशेष रामपुर की मुसलमानी रियासत है। इस रियासत की उपस्थिति मुस्लिम संस्कृति की कुछ विशेषताओं को सुरक्षित रखने में बहुत सहायक रही।

धार्मिक आन्दोलन

२०. वैदिक तथा वौद्धकाल में मध्यदेश के धार्मिक इतिहास पर यहाँ विचार करना अनावश्यक होगा। वैदिक धर्म का यज्ञ-सम्वन्धी पक्ष तथा वौद्ध धर्म के आदि रूपों का पोषण क्रमशः पश्चिम तथा पूर्व मध्यदेश में हुआ था यह वात वहुधा भुला दी जाती है। मध्यदेश से ही वे शेष आर्यावर्त में तथा भारतवर्ष के वाहर तक फैले थे। किंतु वैदिक अथवा वौद्ध धर्म का स्पष्ट अवशिष्ट प्रभाव लोगों के वर्तमान धार्मिक विश्वासों पर नहीं दिखलाई पड़ता। जो प्रभाव है भी वह वहुत ही कम है। प्राचीन ग्रंथों तथा खुदाई से इस वात के प्रमाण मिलते हैं कि व्रज के हृदय प्रदेश में स्थित मथुरा नगरी वौद्ध काल में भी एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक केन्द्र थी। किन्तु प्राचीन वैभव की यह स्मृति सर्वसाधारण द्वारा पूर्णतया भुला दी गई है। जलवायु के प्रभाव तथा धर्मोन्मत्त भारतीय एवं विदेशी शासकों की धर्मांधता के कारण मथुरा में ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण अवशेष नहीं रहा है, जिससे उसका पूर्वरूप पहचाना जा सके।

२१. मध्यदेश में लिखे गए रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों के दोनों महान् नायक राम और कृष्ण की पूजा मध्यकाल में देश के धार्मिक इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस घटना ने इन महाकाव्यों के मूल रूप को ही वदल दिया, और इसके साथ ही पौराणिक तथा प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी रूपान्तर कर दिया। उस काल के लोगों के धार्मिक विश्वासों को वदलने में पुराणों में भागवत पुराण का सर्वाधिक प्रभाव था।

२२. १००० ई० के वाद व्रज क्षेत्र तथा शेष मध्यदेश दो नवीन धार्मिक शक्तियों—विदेशी इस्लाम धर्म तथा दक्षिण भारत के सगुण भक्ति सम्प्रदायों—के प्रभाव में आया। मध्यदेशवासियों को अरव का इस्लाम धर्म सदा अग्राह्य रहा और उन्होंने इसका भरसक विरोध किया। यद्यपि इस्लाम ने अप्रत्यक्ष रूप से लोगों की संस्कृति को अवश्य प्रभावित किया, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि इस्लाम धर्मावलंवी हिन्दुओं की जनसंख्या का प्रतिशत मध्यदेश में उत्तरी भारत के अन्य भागों की अपेक्षा वहुत ही कम, अर्थात् लगभग १५% है। तुलनार्थ पश्चिमी पंजाव तथा पूर्वी वंगाल में लगभग ५०% तथा इससे भी अधिक ही इस्लाम धर्मावलंवी जनसंख्या पाई जाती है। यह वात इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि मध्यदेश भारत में इस्लामी शक्ति तथा प्रभाव का प्रधान केन्द्र रहा। इसी समय दक्षिण के रामानुज, निम्वार्क (१२ वीं शती) आदि आचार्यों द्वारा प्रवर्तित वैष्णव संप्रदायों ने उत्तरी भारत में अपने वीज डाले थे, जो जड़ें पकड़ कर अंकुरित होने लगे थे। मध्यदेश में वैष्णव धर्म की वृद्धि का सर्वाधिक श्रेय रामानन्द (१५ वीं शताव्दी) तथा वल्लभाचार्य (१६ वीं शती) को है। प्रयाग के कान्यकुब्ज व्राह्मण महात्मा रामानन्द के प्रभाव का केन्द्र महापुरुष राम की जन्मभूमि अवध तथा पूर्वी मध्यदेश थी, और इन्हीं के मंगल संदेश से अनुप्राणित हो कर गोस्वामी तुलसीदास (१६ वीं शती) और अप्रत्यक्ष रूप से कवीरदास (१५ वीं शती) एवं नानक (१६ वीं शती) ने भक्तिभाव पूर्ण रचनाएँ कीं।

२३. यहाँ हमारा सम्बन्ध महाप्रभु वल्लभाचार्य (१४८८-१५३० ई०) से विशेष है। महाप्रभु वल्लभाचार्य तैलंग ब्राह्मण थे। उनका जन्म बिहार में हुआ था और उनकी शिक्षा काशी में हुई थी। उनका मुख्य निवास स्थान प्रयाग के निकट यमुना के तट पर अरैल में था जहाँ यमुना गंगा में आकर मिलती है। दक्षिण के चार प्रमुख आचार्यों में विष्णु स्वामी द्वारा प्रवर्त्तित विष्णु सम्प्रदाय से उनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग अथवा वल्लभ सम्प्रदाय नाम से एक स्वतन्त्र वैष्णव मत की स्थापना की। १४९२ ई० में वल्लभाचार्य ने व्रज क्षेत्र में अपने मत के प्रचार के कार्य के लिए एक दूसरा केन्द्र स्थापित करने का विचार किया और अन्त में १४९५ ई० में मथुरा के पास गोवर्द्धन में श्रीनाथ जी के स्वरूप की स्थापना की जो बाद में उनके एक धनी व्यापारी शिष्य के द्वारा एक विशाल मन्दिर में परिवर्तित कर दिया गया (१४९९-१५१९ ई०)। १५१९ ई० में गोवर्द्धन में इस मन्दिर का पूर्ण होना व्रज प्रदेश की भाषा तथा साहित्य को प्रभावित करने वाली एक असाधारण घटना समझनी चाहिए। इसी स्थान पर वल्लभ मतानुयायी अनेक कवियों तथा गायकों के द्वारा कृष्ण कीर्तन के हेतु उत्कृष्ट धार्मिक गीतिकाव्य का प्रणयन हुआ। इसी प्रकार का दूसरा मन्दिर मथुरा के निकट गोकुल में स्थापित किया गया, जहाँ पर बाद को वल्लभाचार्य जी के पुत्र गुसाँई विट्ठलनाथ (१५१५-१५८५ ई०) रहने लगे थे। वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ के शिष्यों की रचनाओं के कारण व्रज प्रदेश की बोली सोलहवीं शताब्दी में मध्यदेश की सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक भाषा बन गई। इसका प्रभाव व्रज क्षेत्र के बाहर भी पड़ा। इस व्यापक प्रभाव का प्रधान कारण व्रज केन्द्र में कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों का होना तो था ही, किंतु साथ ही अन्य कारण इस भाषा का माधुर्य, तथा इसमें लिखे गए साहित्य की मनोरमता और काव्योत्कर्ष भी थे।

२४. वल्लभाचार्य के समय में ही चैतन्य महाप्रभु के कुछ बंगाली शिष्यों ने वृन्दावन को अपना केन्द्र बनाया था, किन्तु ये लोग प्रादेशिक जनता को न तो उतना अधिक प्रभावित ही कर सके और न स्थानीय प्रतिभावान भक्त कवियों को ही आकर्षित कर सके। बाद में निम्बार्क सम्प्रदाय से संबंधित कुछ अन्य उपसम्प्रदाय भी बने जिनमें हित हरिवंश (१६ वीं शती) द्वारा स्थापित राधावल्लभी सम्प्रदाय तथा स्वामी हरिदास (लगभग १५६० ई०) द्वारा स्थापित टट्टी सम्प्रदाय विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनों कृष्ण सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक व्रजभाषा के लेखक थे और उनके द्वारा प्रारंभ की गई साहित्य रचना की परंपरा उनके शिष्यों द्वारा निरंतर चलती रही। किन्तु शुद्ध साहित्यिक गुणों की दृष्टि से उनकी रचनाएँ पुष्टिमार्गी साहित्यिक रचनाओं के समकक्ष नहीं रक्खी जा सकतीं। व्रज में इन धार्मिक चर्चाओं का सर्वोत्कृष्ट काल लगभग डेढ़ शताब्दी तक रहा। १६६९ ई० में अंतिम मुगल सम्राट् औरंगजेब के धार्मिक अत्याचार प्रारम्भ हो जाने से व्रज में कृष्ण सम्बन्धी समस्त संस्थाएँ तितर बितर हो गईं अथवा दबा दी गईं। न केवल पुष्टिमार्ग के उत्साही शिष्यों तथा अनुयायियों की यह दशा हुई, बल्कि स्वयं भगवान के स्वरूप को राजस्थान की पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी जहाँ उदयपुर राज्य में नाथद्वारा में यह अब भी विद्यमान है।[1]

[1] विस्तार के लिये देखिये श्री गोवर्धननाथजी की प्राकट्य की वार्ता।

२५. ब्रज के कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों के द्वारा शैव तथा शाक्त धर्मों के क्षेत्र राजस्थान में ब्रजभाषा तथा साहित्य का प्रसार हुआ। १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी में राजस्थान के हिन्दू दरबारों ने ब्रजभाषा कवियों को संतशिक्षा दी किन्तु इन दरबारी कवियों ने प्राचीन कृष्ण काव्य को लौकिक रूप दे डाला। कृष्ण भक्ति संप्रदायों का प्रभाव गुजरात तक पहुँचा जहाँ वल्लभाचार्य के शिष्यों की सब से अधिक संख्या आज भी मिलती है।

२६. १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सब से महत्वपूर्ण धार्मिक सुधार जिसने मध्यदेश को प्रभावित किया वह एक गुजराती ब्राह्मण स्वामी दयानन्द सरस्वती का चलाया हुआ था। अपनी शिक्षा के अन्तिम दिन उन्होंने वैदिक संस्कृत के एक प्रकांड विद्वान् स्वामी विरजानंद की शिष्यता में मथुरा में व्यतीत किए थे। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रचारित सुधार में विश्वास रखने वाली आर्य समाज नाम की संस्था द्वारा चलाई गई अर्द्ध-धार्मिक तथा अर्द्ध-शिक्षा संबंधिनी एक संस्था वृंदावन में ही स्थित है। किन्तु अब साहित्यिक क्षेत्र में ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली हिंदी ने ले लिया था अतः स्वामी दयानन्द ने अपने उपदेशों के प्रचार के लिए इसे ही चुना। देवनागरी लिपि सहित खड़ीबोली हिंदी को उन्होंने आर्य समाज के समस्त सदस्यों के लिए अनिवार्य कर दिया। फलस्वरूप इस धार्मिक सुधार के द्वारा ब्रजभाषा को नवीन जीवन ग्रहण करने में कोई सहायता न मिली। इतना सब होते हुए भी हम पाते हैं कि आर्य समाज के कुछ कवियों ने ब्रजभाषा में रचनाएँ कर के इसके साहित्य को धनी बनाया है।

२७. मध्यदेश से संबंधित अन्तिम धार्मिक चेतना स्वामी जी महाराज (१८१८-१८७८)[१] कहलाने वाले गुरु स्वामीदयाल द्वारा स्थापित राधास्वामी सम्प्रदाय की है। इस धार्मिक संप्रदाय के प्रसिद्ध गुरु श्री आनन्द स्वरूप, उपनाम साहिबजी महाराज, ने १९१३ ई० के बाद ब्रज क्षेत्र में आगरा के निकट दयालबाग में अपने शिष्यों का एक महत्त्वपूर्ण उपनिवेश बसाया। इस आन्दोलन के दो मुख्य पक्ष हैं—एक आध्यात्मिक और दूसरा औद्योगिक। दोनों ही पक्षों के लिए भाषा की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है, और जितनी पड़ती है उसकी पूर्ति खड़ीबोली हिंदी के ही साधारण बोलचाल के रूप से कर ली जाती है। खड़ीबोली हिंदी ही ब्रज प्रदेश की भी वर्तमान साहित्यिक भाषा हो गई है।

२८. ब्रज में आज भी ऐसे अनेक केन्द्र हैं जहाँ धार्मिक प्रवृत्ति के लोग विशेष आकर्षित होते हैं। मथुरा तीर्थयात्रा का अखिल भारतवर्षीय स्थान है। वृन्दावन मुख्य रूप से राधा-वल्लभीय संप्रदाय का केन्द्र है तथा राधाकृष्ण प्रेमी बंगालियों का भी प्रिय स्थान है।

---

[१] यहाँ यह बता देना उचित है कि राधा स्वामी सम्प्रदाय में राधा शब्द का अर्थ कृष्ण की सहचरी पौराणिक राधा नहीं है, किन्तु स्वामी सहित यह शब्द परमेश्वर का सच्चा नाम माना जाता है। यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सम्प्रदाय का नाम सम्प्रदाय के स्थापक गुरु स्वामीदयाल के नाम के एक अंश से तथा उनकी पत्नी नारायणी देवी के नाम से, जिन्होंने बाद में अपना नाम राधा रख लिया था, प्रभावित है।

गोकुल गुजराती यात्रियों का विशेष तीर्थ स्थान है क्योंकि ये अधिक संख्या में पुष्टि मार्ग में विश्वास रखने वाले हैं। विट्ठलनाथ के समय से ही गोकुल के मन्दिर का कार्य भार गुजराती ब्राह्मणों के हाथ में रहा है। गुजरातियों का गोकुल के प्रति विशेष आकर्षण इस कारण भी कदाचित् बना हुआ है। पुष्टिमार्ग से संबद्ध बालकृष्ण की पूजा तथा अनेक आकर्षक उत्सव और भोग आदि ऐसी बातें हैं जो इस संप्रदाय के प्रति स्त्रियों तथा धनी वर्ग को विशेष आकर्षित करती हैं। पर्दा प्रथा से स्वतंत्र गुजराती स्त्रियों तथा गुजरात के धनी व्यापारियों के इस ओर आकर्षण का कारण सम्प्रदाय का एक यह विशेष मनोरम पक्ष भी है।

ब्रज में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान सोरों अथवा सूकर-क्षेत्र है जहाँ पुराणों के अनुसार विष्णु भगवान का शूकर अवतार हुआ था। यह गंगा के किनारे बदायूँ जिले में है और राजस्थान की हिन्दू जनता का प्रिय स्थान है। समस्त पश्चिमी तथा दक्षिणी ब्रज प्रदेश को पार कर के बहुत बड़ी संख्या में राजस्थानी जनता यहाँ आती है और इस प्रकार अपने मूल देश के सम्बन्ध को बनाए हुए है। इसके अतिरिक्त गंगा ब्रज क्षेत्र में एक सिरे से दूसरे सिरे तक बहती है, और इसके पवित्र तट पर ऐसे अनेक स्थान हैं जहाँ विशेष पर्वों के अवसरों पर बड़े बड़े मेले लगते हैं। इनमें अलीगढ़ जिले में राजघाट, बदायूँ में ककोरा तथा बुलन्दशहर में अनूपशहर विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त ब्रज में अनेक छोटे छोटे स्थानीय धार्मिक केन्द्र हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ अनावश्यक होगा।

३. ब्रजभाषा साहित्य

बोली का नाम

२९. 'ब्रज' शब्द का संस्कृत तत्सम रूप 'व्रज' है जो संस्कृत धातु 'व्रज्' 'जाना' से बना है। 'व्रज' शब्द का प्रथम प्रयोग ऋग्वेद संहिता[1] में मिलता है किन्तु यहाँ यह शब्द ढोरों के चरागाह या बाड़े अथवा पशु समूह के अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य तथा रामायण महाभारत[2] तक में यह शब्द देशवाचक नहीं हो पाया था। हरिवंश[3] तथा भागवत[4] आदि पौराणिक साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग कृष्ण के पिता नन्द के मथुरा के निकटस्थ व्रज अर्थात् गोष्ठ विशेष के अर्थ में ही हुआ है। मध्यकालीन हिंदी साहित्य[5] में तद्भव रूप 'ब्रज' अथवा 'बृज' निश्चय ही मथुरा के चारों ओर के

---

[1] जैसे, ऋग्वेद मं० २, सू० ३८ मं० ८; मं० ५, सू० ३५, मंत्र ४; मंत्र १०, सू० ४, मंत्र २। अन्य उल्लेखों के लिए देखिये वेदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० ३४०।

[2] 'वृजि' शब्द प्राचीन बौद्ध साहित्य में कुछ देशवासियों के नाम के अर्थ में मिलता है। विवरण के लिए देखिए मोनियर विलियम का संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोष।

[3] हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ९, श्लो० ३, ६, १८, १९, ३०; अध्याय २२, श्लो० ३४।

[4] भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय १, श्लो० ९९; अध्याय २ श्लो० १।

[5] चौरासी वार्ता, प्रसंग १।

प्रदेश के अर्थ में मिलता है। इस प्रदेश की भाषा के लिए मध्यकालीन हिंदी लेखकों के[1] द्वारा केवल भाषा अथवा भाखा शब्द का ही प्रयोग होता था। यह प्रयोग केवल ब्रज क्षेत्र की भाषा के लिए ही सीमित नहीं था, बल्कि हिन्दी की अन्य साहित्यिक बोलियों के लिए भी प्रयुक्त होता था।

३०. निश्चित रूप से ब्रजभाषा का उल्लेख १८ वीं शताब्दी[2] से पूर्व नहीं मिलता। राजपूताना में काव्य की भाषा होने के कारण ब्रजभाषा 'पिंगल' कहलाई। उर्दू लेखक ब्रजभाषा को 'भाखा' कह कर पुकारते थे। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि बंगाली लेखकों की ब्रज-बुलि[3] ब्रजभाषा नहीं थी, बल्कि मैथिली बोली से मिली हुई हिंदी शब्दों तथा हिंदी व्याकरण के ढाँचे में ढली हुई बंगाली बोली ही थी।

पूर्ण शब्द 'ब्रजभाषा' अथवा 'भाखा' के स्थान पर सरल तथा स्पष्ट होने के कारण इस पुस्तक में प्रायः 'ब्रज' का प्रयोग किया गया है। अन्तर्वेदी, कन्नौजी, जादोबाटी, सिकरवारी, कँथेरिया, डाँगी, डांगभाँग, कालीमल और डुँगवारा आदि बोलियाँ ब्रज के ही स्थानीय रूपान्तर हैं तथा अपने क्षेत्र विशेष तक सीमित हैं।[4]

साहित्य तथा भाषा

प्राचीन काल (१४०० ई० के पूर्व)

३१. १९ वीं शताब्दी से पहले हिंदी साहित्य का इतिहास प्रधानतया ब्रज साहित्य का इतिहास है इसलिए इस काल की संक्षिप्त परीक्षा कर लेने से ब्रज की साहित्यिक एवं भाषा विषयक रूपरेखा को समझने में विशेष सहायता मिलेगी। हिंदी भाषा तथा साहित्य का इतिहास तीन मुख्य कालों में विभक्त किया जा सकता है, अर्थात् (१) प्राचीन काल (१४०० ई० के पूर्व), (२) मध्य काल (१४०० से १८०० ई०) तथा (३) आधुनिक काल (१९०० ई० के बाद)।

मध्यकाल कभी कभी दो उपकालों में विभक्त किया जाता है, अर्थात् भक्ति उपकाल (१४००-१६०० ई०) और रीति उपकाल (१६०० ई०—१८०० ई०)। यह विभाजन साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर है। विभाजन के इस दूसरे आधार पर प्राचीन तथा आधुनिक कालों को प्रायः वीरगाथा काल तथा गद्य काल भी क्रमशः कहा जाता है।

३२. परम्परानुसार हिंदी साहित्य का सब से प्राचीन रूप हमें १२ वीं शताब्दी में मिलता है, जब कि मध्यदेश के प्रायः सभी हिन्दू दरबारों में स्थानीय बोलियों की संरक्षिता

---

[1] तुलसीदास : दोहावली, पद्य ५७२; नन्ददास : रासपंचाध्यायी, अध्याय १, पंक्ति ४०; केशवदास : रामचन्द्रिका, प्रकाश १, पद्य ५; वृन्द सतसई : दोहा ७०५।

[2] भिखारीदास : काव्य निर्णय (१७४६ ई०), अध्याय १, छन्द १४, १६; लल्लूलाल : राजनीति (१८०२ ई०), पृष्ठ १ और २।

[3] चटर्जी : बंगाली भाषा (Bengali Language) पृ० ५६।

[4] लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव् इण्डिया : भाग ९, खण्ड १, पृष्ठ ६९।

के प्रमाण मिलते हैं। मध्यदेश की एक आधुनिक बोली में लिखी गई सब से प्राचीन प्राप्त पुस्तक बीसलदेव रासो की रचना अन्तर्साक्ष्य के आधार पर ११५५ ई० में अजमेर के राजा बीसलदेव के दरबार में नरपति नाल्ह द्वारा हुई थी। किन्तु आजकल प्राप्त पोथी की प्राचीनतम हस्तलिपि १६१२ ई० की मिलती है और छपी हुई[1] पुस्तक का आधार एक तो यही हस्तलिपि है तथा दूसरी १९०२ की लिखी हुई हस्तलिपि है। यदि यह रचना वर्तमान रूप में इतनी प्राचीन[2] भी हो, तो भी यह राजस्थानी भाषा में ही है ब्रज में नहीं, जैसा कि **छ** सहायक क्रिया, **स** भविष्य, **न** के स्थान पर **ण** का व्यवहार तथा इसी प्रकार की अन्य राजस्थानी विशेषताओं से स्पष्ट होता है।

३३. दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना, जो बारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द की कही जाती है, पृथ्वीराज रासो है जो दिल्ली के अन्तिम हिंदू शासक महाराज पृथ्वीराज के राजकवि चन्द द्वारा रचित मानी जाती है। किन्तु यह ग्रंथ भी वर्त्तमान रूप में इतना प्राचीन नहीं है।[3] इस रासो की प्राचीनतम हस्तलिपि १५८५ ई० तक की प्राप्त हुई है। राजपूत काल के सर्वमान्य इतिहासज्ञ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार यह रचना अन्य किसी कवि द्वारा लगभग १६ वीं शताब्दी के मध्य भाग में लिखी गई होगी। भाषा की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो की भाषा प्रधानतया ब्रज है जिसमें उसकी ओजपूर्ण शैली को सुसज्जित करने के लिए प्राकृत अथवा प्राकृताभास रूप स्वतंत्रता के साथ मिश्रित कर दिए गए हैं। प्राकृत रूपों का प्रयोग करने की यह शैली हम तुलसीदास, भूषण तथा अन्य मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में भी पाते हैं, यद्यपि यह प्रवृत्ति इन बाद के कवियों में इस मात्रा में नहीं मिलती है। पृथ्वीराज रासो मध्यकालीन ब्रजभाषा में ही लिखा गया है, पुरानी राजस्थानी में नहीं जैसा कि साधारणतया इस विषय में माना जाता है। यह पुस्तक ब्रजभाषा के वर्तमान अध्ययन में नहीं सम्मिलित की गई है। इसका कारण सम्पूर्ण रचना का संदेहात्मक तथा विवादग्रस्त होना ही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कन्नौज के समकालीन हिन्दू दरबार में स्थानीय बोली की अपेक्षा कदाचित् संस्कृत को अधिक उच्च स्थान मिला हुआ था। संस्कृत का अंतिम महाकाव्य नैषधचरित कन्नौज के अंतिम हिन्दू शासक जयचन्द (१२ वीं शती) के दरबार में लिखा गया था। बाद की कुछ रचनाओं से ज्ञात होता है कि जयचन्द के दरबार के दो भाषा कवियों—भट्ट केदार तथा मधुकर—ने क्रमशः जयचन्द प्रकाश

---

[1] सत्यजीवन वर्मा द्वारा संपादित, तथा नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित-बनारस १९८१ वि०। ग्रंथ का नवीन सुसंपादित संस्करण 'बीसलदेव रास' के नाम से हिंदी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग द्वारा १९५३ में प्रकाशित हुआ है।

[2] गौ० ही० ओझा इस पुस्तक को हम्मीर देव के काल की बतलाते हैं, देखिए राजपूताना का इतिहास, भूमिका पृष्ठ १९।

[3] ज० बं० रा० सो० १८८६, खण्ड १, पृष्ठ ५।

[4] ना० प्र० पत्रिका, भाग १०, पृष्ठ २९।

[5] ज० बं० रा० सो०, १८७३, खण्ड १, पृ० १६५।

तथा जयमयंकजस चन्द्रिका नाम की रचनाएँ की थीं, किन्तु अभी तक ये पुस्तकें अप्राप्य हैं।

३४. मध्यदेश के चौथे समकालीन हिंदू दरबार अर्थात् बुन्देलखण्ड में महोवा के साथ लोकप्रिय वीरकाव्य आल्हखण्ड के रचयिता जगनिक अथवा जगनायक का नाम लिया जाता है। अभाग्यवश यह मूल ग्रंथ अनुपलब्ध है। इस रचना का वर्तमान प्राप्त संस्करण १९ वीं शताब्दी में चारणों में प्रचलित मौखिक जनश्रुति के आधार पर संकलित किया गया था। इसकी भाषा बुन्देली के साथ मिली हुई पूर्वी व्रज है किन्तु प्राचीन व्रज के इतिहास के लिए इसका कोई मूल्य नहीं है। यह सच है कि लोकप्रियता की दृष्टि से आदिकाल से सम्बन्धित समस्त हिंदी रचनाओं में 'आल्हखण्ड' ही हिंदी भाषियों में सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में प्रथम स्थान रखता है।

३५. ११९२ ई० के बाद लगभग १२ वर्षों के भीतर ही मध्यदेश के इन समस्त महत्त्वपूर्ण हिन्दू राजदरबारों का लुप्त हो जाना स्थानीय आधुनिक बोलियों तथा उनके विकासशील साहित्य को आघात पहुँचाने वाली एक महत्वपूर्ण घटना थी। मुस्लिम शासन के आदि काल (१३ वीं, १४ वीं शती) में हम मध्यदेश तथा व्रज भाषा साहित्य के इतिहास में एक लम्बी अवधि वाला अन्धकार पूर्ण समय पाते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। विदेशी शासक देश की संस्कृति के प्रति किसी प्रकार की भी सहानुभूति नहीं रखते थे, और न इस संस्कृति के संरक्षण के लिए गंगा के मैदान में कोई हिन्दू राज दरबार ही रह गए थे। साधारण लोगों का जीवन भी इतना स्थिर न रहा होगा कि वह सांस्कृतिक आनंद के विषय में कुछ सोच सके। जहाँ तक राजस्थान और बुन्देलखंड में शरण लेने वाले हिन्दू राजाओं का सम्बन्ध है, वे अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए ही सदैव संघर्ष में लगे रहते थे। इस प्रकार संस्कृति के उत्कर्ष के विषय में सोचने का उनके पास भी अवकाश न था। इस काल के अकेले प्रसिद्ध हिंदी कवि अमीर खुसरो (१२५५-१३२४ ई०) माने जाते हैं, जो वास्तव में फ़ारसी लेखक थे। यदि खुसरो की उन फुटकर हिंदी रचनाओं का रूप प्राचीन काल का ही मान लिया जाय, जिसमें अत्यंत संदेह है, तो भी वे व्रज मिश्रित बोली में मानी जाएँगी। ऐसा भी हो सकता है कि इस काल में कुछ अन्य साहित्यिक रचनाएँ भी हुई हों, जो कालान्तर में खो गई हों। कुछ भी हो, अभी तक इस सम्बन्ध में न तो कोई रचनाएँ ही सामने आई हैं और न उनके विषय में कोई उल्लेख ही मिला है।

३६. १२ वीं तथा १३ वीं शताब्दियों की संस्कृत तथा प्राकृत रचनाओं से एकत्रित किए गए "पुरानी हिन्दी" के कुछ उदाहरण चन्द्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा लिखित (ना० प्र० पत्रिका, भाग २) इसी नाम के लेखों में मिलते हैं। इन उदाहरणों की परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी भाषा प्रधानतया प्राकृत के अन्तिम रूपों से मिलती जुलती है, तथा उसमें आधुनिकता बहुत कम मिलती है। जहाँ तहाँ प्राप्त आधुनिकता का पुट (जैसे, *स* भविष्य, मूर्द्धन्य ध्वनियों का विशेष प्रयोग) हमें आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के मध्य वर्ग की अपेक्षा पश्चिमी वर्ग का अधिक स्मरण दिलाता है।

३७. इस काल में पूर्वी मध्यदेश में कुछ साहित्यिक क्रियाशीलता अवश्य थी, किन्तु इससे ब्रजभाषा पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। ब्रज गद्य के सर्वप्रथम लेखक कहे जाने वाले गोरखनाथ (१३ वीं शती) की कोई प्रामाणिक ब्रजभाषा रचना अभी तक नहीं मिली है। गोरखनाथ की प्राप्त रचनाएँ लगभग १३५० ई० की हैं किन्तु हस्तलिपियों का समय १७९८ और १८०२ ई०[1] के मध्य का है।

३८. प्राचीन ब्रजभाषा पर प्रकाश डालने वाले किसी महत्त्वपूर्ण शिलालेख अथवा ताम्रपत्र के लेख का भी पता अब तक नहीं चला है।[2] १२ वीं शताब्दी के कहे जाने वाले कुछ पत्र तथा परवाने जाली सिद्ध हो गए हैं।

३९. कहा जाता है कि इसी काल में निम्बार्काचार्य ने मथुरा ज़िले में वृन्दावन की यात्रा की किन्तु उनकी तथा उनके समकालीन शिष्यों की स्थानीय बोली में की गई रचनाएँ अभी भी अज्ञात हैं।

विद्यापति (लगभग १३६०-१४२८ ई०) के पद बिहारी की मैथिली बोली में हैं, जिनमें कहीं-कहीं ब्रज रूप मिलते हैं। विद्यापति की पदावली के वर्तमान संस्करण प्राचीन हस्तलिखित सामग्री पर आधारित नहीं है बल्कि कवि के गीतों की मौखिक परंपरा के बंगाली, मैथिली अथवा भोजपुरी रूपान्तरमात्र हैं इसलिए भाषा के प्राचीन रूप के विद्यार्थी के लिए उनकी विशेष उपयोगिता नहीं रह जाती है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आदिकाल (१४०० ई० के पूर्व) से हमें ऐसी कोई विश्वस्त सामग्री नहीं मिलती, जो ब्रजभाषा के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाल सके।

मध्यकाल (१४००–१८०० ई०)

४०. मध्यकाल (१४००–१८०० ई०) पर विचार करने से पता चलता है कि इसकी प्रथम शताब्दी (१५ वीं शती) में ऐसी कोई सामग्री नहीं मिलती जो ब्रज भाषा के इतिहास की रचना में सहायक हो सके। इस शताब्दी में प्रसिद्ध नाम केवल कबीरदास का ही लिया जा सकता है, किन्तु उनकी अब तक की प्राप्त रचनाएँ खड़ी बोली और भोजपुरी तथा अवधी, अथवा खड़ीबोली और पंजाबी के मिश्रित रूप में

---

[1] रामचन्द्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, १९८६ वि०, पृष्ठ ४८०।
गोरखनाथ के प्राप्त ग्रंथों का प्रामाणिक संस्करण गोरख-बानी नाम से हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ है।

[2] १६ वीं शताब्दी के हिन्दी शिलालेखों आदि के नमूनों के लिए देखिए, ना० प्र० पत्रिका, भाग ६, पृ० १; भाग ८, पृष्ठ ३९५। सन् १५९० तथा १६३६ ई० के दो संक्षिप्त लेखों के लिए देखिये, ग्राउज : मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट गैज़ेटियर १८८०, भाग १, पृ० २२४ और पृ० २२७।

[3] ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० ४३२ नई।

[4] भण्डारकर : वैष्णविज़्म आदि, पृ० ६६।

[5] विद्यापति की कीर्तिलता की भाषा अपभ्रंश तथा पुरानी मैथिली के बीच की है। विस्तार के लिए देखिए, सक्सेना : कीर्तिलता, भूमिका।

मिलती हैं। खड़ीबोली और पंजाबी मिश्रित संस्करण का आधार एक हस्तलिपि है जो १५०४ ई० की मानी जाती है।[१]

गुरु ग्रंथ साहब का संकलन १६०४ ई० में हुआ था। यह खड़ीबोली तथा ब्रज की मिश्रित शैली में है और इस में जहाँ तहाँ कुछ पंजाबी रूपों का भी मिश्रण है। अभाग्यवश इसका कोई भाषा विषयक प्रामाणिक संस्करण अब तक प्राप्य नहीं है।

१६ वीं शताब्दी की होने पर भी यहाँ पर हिन्दी की प्रसिद्ध कवयित्री मीराँ का उल्लेख कर देना आवश्यक है। उनकी मातृभाषा राजस्थानी थी, किन्तु वे कुछ समय तक वृन्दावन में भी रहीं थीं तथा उनके जीवन के अन्तिम दिन गुजरात में बीते थे। मीराँबाई के गीतों के उपलब्ध संकलन राजस्थानी तथा गुजराती के मिश्रितरूपों में हैं, जिनमें कहीं कहीं ब्रज का पुट भी मिलता है। किसी प्राचीन हस्तलिपि के आधार पर न होने तथा केवल लोगों के मुख से सुन कर एकत्रित किए जाने के कारण भाषा की दृष्टि से उनकी यहाँ परीक्षा करना उचित नहीं समझा गया। ब्रज से सम्बन्ध रखने के दृष्टिकोण से मीराँ की रचनाओं का पश्चिमी मध्यदेश में वही स्थान है जो विद्यापति की पदावली का पूर्वी मध्यदेश में है।

४१. १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा १६ वीं के पूर्वार्द्ध के लगभग प्रथम मुसलमानी साम्राज्य के कुछ क्षीण होने पर बहुत समय के बाद जनता को अपने को नवीन वातावरण के अनुकूल बनाने का अवसर मिला, जिसके कारण हमें मध्यदेश में नियमित रूप से सांस्कृतिक पुनरुत्थान के दर्शन होते हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है इसका प्रारम्भ पूर्वी मध्यदेश में रामानन्द द्वारा आरम्भ किए गए धार्मिक जागरण से हुआ। बाद में उसकी पुष्टि पश्चिमी मध्यदेश में वल्लभचार्य ने की। कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में भागवत पुराण का, जो वैष्णवों में सर्वाधिक मान्य ग्रंथ माना जाता है, मध्ययुगीन भाषा साहित्य को प्रभावित करने में सब से अधिक हाथ रहा है। किन्तु यह बात केवल बाह्य रूपरेखा के लिए ही सत्य है। जहाँ तक उसकी आत्मा का सम्बन्ध है मध्ययुगीन साहित्य ने स्वयं अपने वातावरण का निर्माण किया।

मध्यकाल में १६ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक का हिन्दी साहित्य का इतिहास वास्तव में ब्रज साहित्य का इतिहास है। मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत (लगभग १५४० ई०) तथा तुलसीदास के रामचरित मानस (१५७५ ई०) को छोड़ कर सभी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं।

मुगल साम्राज्य काल में वैष्णव भक्तों द्वारा गीत काव्य के रूप में तथा बुन्देलखण्ड और राजस्थान के हिन्दू दरबारों में शृंगार भावना को लेकर अलंकार प्रधान लौकिक साहित्य के रूप में साहित्यिक चर्चा का मध्यदेश में विशेष विकास हुआ।

४२. जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है ब्रजभाषा और उसके साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ (१५१९ ई०) में उस तिथि से होता है जब गोवर्द्धन में श्रीनाथ जी के मन्दिर का निर्माण पूर्ण हुआ और महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवान् के स्वरूप के

---

[१] श्यामसुन्दरदास : कबीर ग्रंथावली, १९२८ ई०।

सम्मुख नियमित रूप से कीर्त्तन की व्यवस्था करने का संकल्प किया। इस कार्य के लिए उन्होंने कवि गायकों को ढूंढ निकाला और उन्हें प्रश्रय देकर उनमें नवीन धार्मिक उत्साह भरा। इसी प्रोत्साहन का फल था कि पुष्टिमार्ग से सम्बन्धित दो महान् एवं सर्वाधिक जनप्रिय कवि सूरदास और नन्ददास ने व्रज मण्डल की स्थानीय बोली में गीत लिखे और गाए, और इस प्रकार उस साधारण बोली को एक साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित करने में समर्थ हुए। सूरदास (रचनाकाल १५३०-१५५० ई०) व्रजभाषा के सर्व प्रथम तथा सर्व प्रधान कवि हैं जिनकी रचनाएँ हमें प्राप्त हैं। वल्लभाचार्य के पुत्र तथा उत्तराधिकारी विट्ठलनाथ और पौत्र गोकुलनाथ, जिनकी प्रेरणा से चौरासी वैष्णवों की वार्ता की रचना हुई जो व्रज का प्रथम उपलब्ध गद्य ग्रंथ माना जाता है, इन दोनों के केन्द्र व्रज क्षेत्र के हृदय प्रदेश में थे और इन दोनों ने पुष्टिमार्ग के संस्थापक द्वारा चलाए गए साहित्यिक एवं धार्मिक संगठन को उसी प्रकार संरक्षण प्रदान कर जारी रक्खा और इस प्रकार व्रजभाषा के विशाल साहित्य की रचना में योग दिया। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अष्टछाप की नींव डाली, जिस में आठ प्रमुख प्रसिद्धि प्राप्त व्रजभाषा कवि सम्मिलित थे। इनकी रचनाओं ने धर्म, साहित्य तथा भाषा विषयक मान स्थिर कर उस साहित्य को एक विशेष छाप दी।

व्रजभाषा के रचयिताओं का यह मंडल बनाने के लिए उन्होंने अपने पिता के चार प्रसिद्ध कवि शिष्यों को तथा ऐसे ही चार अपने शिष्यों को चुना। इन प्रसिद्ध अष्टछाप कवियों के नाम हैं—सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास; नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी और गोविन्द स्वामी।[1] वर्तमान भाषा विषयक अध्ययन के लिए दोनों उपसमूहों के प्रतिनिधियों के रूप में सूरदास और नन्ददास चुन लिए गए हैं। अष्टछाप कवियों में से यही दो कवि ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ प्रमाणिक प्रकाशित संस्करणों के रूप में प्राप्त हैं।

४३. सूरदास की अधिकांश रचनाएँ, मुख्यतया कृष्ण लीला संबंधी पद, कदाचित् १५३० और १५५० ई० के बीच रचे गए थे। सूर की संपूर्ण रचनाओं का संकलन सूरसागर के नाम से प्रसिद्ध है। मानवीय भावनाओं की सूक्ष्मताओं को चित्रित करने में साहित्यिक दृष्टिकोण से कोई भी दूसरा हिन्दी कवि उनकी समता नहीं कर सका है। भाषा के दृष्टिकोण से स्थानीय व्रजभाषा का प्रयोग जिस सुगमता तथा कुशलता से उन्होंने किया है वह बेजोड़ है। सूरदास की व्रजभाषा पर हमें

---

[1] अष्टछाप कवियों के पदों के संकलन के लिए देखिए, राग कल्पद्रुम, भाग १–३, कृष्णानन्द व्यासदेव द्वारा संकलित तथा बंगीय साहित्य परिषद् द्वारा प्रकाशित, संशोधित संस्करण १९१४-१९१६। इन कवियों की जीवनियाँ ८४ तथा २५२ वैष्णवों की वार्ता में मिलती हैं, तथा पृथक् लाला रामनारायण लाल पुस्तक विक्रेता एवं प्रकाशक इलाहाबाद के द्वारा अष्टछाप के नाम से प्रकाशित हुई हैं। इन कवियों की अप्रकाशित रचनाओं के लिए देखिए नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस द्वारा प्रकाशित हिन्दी सर्च रिपोर्ट्स।

अन्य बोलियों का प्रभाव बहुत कम मिलता है, कदाचित् ब्रज उनकी मातृभाषा थी। उदाहरणार्थ केवल एक ही दो स्थानों पर ब्रज रूप **मेरो** के स्थान पर अवधी रूप **मोर** पाया जाता है (दे० सूरसागर, पृष्ठ २७८, पं० ७)। साधारणतया ऐसे प्रयोग तुक के लिए ही हैं। कहीं कहीं हमें ब्रज *ता, जा, का* के स्थान पर पूर्वी सर्वनामवाची रूपों—*तिह, जिहि, केहि* इत्यादि—के प्रयोग भी मिलते हैं। ऐसे उदाहरण बहुत ही कम तथा कहीं-कहीं ही मिलते हैं। सूरदास की भाषा शुद्ध आदर्श ब्रजभाषा समझी जाती है और यह दावा अनुचित नहीं है। सूरसागर के दो प्राचीन संस्करणों में से भाषा के दृष्टिकोण से वेंकटेश्वर प्रेस वाले संस्करण की अपेक्षा नवल किशोर प्रेस वाला संस्करण अधिक प्रामाणिक है। सूरदास की भाषा के वर्तमान अध्ययन में प्रधानतया नवल किशोर प्रेस वाले संस्करण से सहायता ली गई है। पाठों की दृष्टि से अधिक प्रामाणिक संस्करण, जिसका कुछ अंश स्वर्गीय जगन्नाथ दास रत्नाकर द्वारा संपादित हुआ था, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अब प्रकाशित हो गया है।

४४. अष्टछाप के लघु वर्ग के प्रतिनिधि तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ (१५१५-१५८५ ई०) के समकालीन कवि नन्ददास कदाचित् पूर्वी मध्यदेश के निवासी थे। वार्ता के अनुसार काशी में वे बहुत समय तक रहे थे, और इसीलिए उनकी रचनाओं में पूर्वी रूप अपेक्षाकृत अधिक मिलते हैं, जैसे **है** के लिए *आहि* (१–१००); *होयगी* अथवा **है** के लिए **होई**। उनकी भाषा शैली अधिक कृत्रिम है, यद्यपि चुने हुए शब्दों में लघु-चित्रण की कला के कारण उन्हें उच्च स्थान दिया जाता है। तुक आदि के लिए कभी कभी वे शब्दों के रूपों में भी तोड़ मरोड़ कर देते हैं, जैसे **हमारो** (१,९२) के लिए **हमरो**, *तुम्हारी* (३-९) के लिए *तुमरी*। उनकी रचनाओं में दो प्रसिद्ध खंडकाव्य रास पञ्चाध्यायी और भ्रमर गीत हैं।

४५. पुष्टिमार्ग के कवियों पर पूर्वी हिंदी की बोलियों के प्रभाव का एक दूसरा कारण भी हो सकता है। जैसा पहले कहा गया है, संप्रदाय का प्रथम प्रधान केंद्र अवधी भाषा क्षेत्र में स्थित प्रयाग के निकट अरैल में था। ब्रज में धार्मिक केंद्रों की स्थापना के बाद भी अरैल और गोकुल के बीच निरंतर यातायात था। इसके अतिरिक्त संप्रदाय के ब्रज के केन्द्रों में अवधी बोलने वाले सेवकों तथा अनुयायियों की उपस्थिति की संभावना हो सकती है, अतः ब्रज के स्थानीय लेखकों पर संपर्क में आने वाले लोगों का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप में पड़ सकता है।

४६. पुष्टिमार्ग के आचार्यों की परंपरा में वल्लभाचार्य के पौत्र गोकुलनाथ (१५५१-१६४७ ई०) अपने पितामह वल्लभाचार्य के ८४ मुख्य शिष्यों की जीवनी चित्रित करने वाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' की रचना करने के कारण ब्रज गद्य के प्रथम लेखक माने जाते हैं। प्राचीन ब्रज में केवल यही एक प्रसिद्ध प्रकाशित गद्य रचना है।[1] वार्ता के वर्तमान प्राप्त संस्करण में कुछ स्थानीय आधुनिक रूप जहाँ-तहाँ प्रयुक्त

---

[1] यहाँ यह बता देना चाहिए कि प्राचीन ब्रज में गद्य की कमी नहीं है, किन्तु अभी तक उसका बहुत थोड़ा भाग प्रकाशित हुआ है। ना० प्र० सभा, काशी द्वारा प्रकाशित

कर दिए गए हैं, जैसे **हौं** के लिए **हूँ**, **मैं** के लिए **में** इत्यादि। हस्तलिखित पोथियों के लगातार कई बार प्रतिलिपि करने के कारण रचना के मूल रूप में कुछ परिवर्तन हो सकता है। इस प्रकार से गद्य में परिवर्तन की अधिक संभावना होती है, क्योंकि प्रतिलिपि करने वाले के सामने छंद संबंधी बंधन नहीं रहते। यह तो निश्चय है कि व्रज की दूसरी गद्यवार्ता, २५२ वैष्णवन की वार्ता, बाद में ८४ वार्ता के अनुकरण में बनायी गई रचना है। भाषा के प्रमाण से भी यह बात भली प्रकार सिद्ध हो जाती है। यही कारण है कि व्रज भाषा के वर्तमान अध्ययन में उसे सम्मिलित नहीं किया गया है।

४७. कृष्ण की सहचरी राधा को अधिक महत्त्व देने वाले राधावल्लभी संप्रदाय के संस्थापक स्वामी हितहरिवंश व्रजभाषा के भी प्रसिद्ध कवि थे। उनका जन्म मथुरा जिले में हुआ था। राधाकृष्ण पर लिखे गए उनके ८४ पदों का संकलन उनकी रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ है। यह निश्चय ही विशुद्ध व्रजभाषा में है, यद्यपि इसकी शैली पर संस्कृत का अधिक प्रभाव है।

व्रज मंडल में रहने वाले उपर्युक्त कवि-समूह के प्रयास से स्थानीय बोली साहित्यिक भाषा के उच्चपद पर आसीन हो गई और शीघ्र ही संपूर्ण मध्यदेश में उसका सर्वोच्च साहित्यिक पद स्वीकार कर लिया गया। हिंदी की द्वितीय महत्त्वपूर्ण बोली अवधी अधिक समय तक व्रज का सामना न कर सकी। जब मुसलमान लेखकों ने साहित्यिक रचना के लिए पहले दक्षिण में और फिर दिल्ली में हिंदवी अर्थात् पुरानी खड़ीबोली को अपनाया तो वे भी 'भाखा' से प्रभावित हुए। मारवाड़ और मिथिला में स्थानीय बोलियों अर्थात् क्रमशः डिंगल और मैथिली का साहित्यिक स्थान था। किंतु यहां भी व्रजभाषा बड़ी बहिन के रूप में मान्य थी, तथा आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। इस बोली का प्रभाव पूर्व में बंगाल तक तथा पश्चिम में गुजरात और पंजाब तक था।

४८. १६ वीं शताब्दी में व्रज को साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाने वाले पूर्वी मध्यदेश के कवियों में तुलसीदास, नाभादास और नरोत्तमदास का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। रामानंदी मतानुयायी तुलसीदास अपनी प्रसिद्ध लोकप्रिय रचना रामचरितमानस को अवधी भाषा में लिखने के कारण साधारणतया अवधी लेखक माने जाते हैं, किन्तु साथ ही यह न भूलना चाहिए कि उनकी प्रायः समस्त शेष प्रधान रचनाएँ अवधी में न हो कर व्रजभाषा में ही हैं। पद तथा काव्य रचना के लिए उन्होंने वैष्णव भक्तों तथा दरबारों में प्रचलित व्रजभाषा को अपनाया और इस अपनायी हुई भाषा में, जो एक मत के अनुसार उनकी मातृभाषा थी, उन्होंने शैली के लालित्य का पूर्ण निर्वाह किया है। उनकी व्रजभाषा की रचनाओं में गीत काव्यों के दो

हिंदी हस्तलिपियों की खोज रिपोर्टों (१९००-१९२२) में लगभग सौ गद्य की अथवा गद्य पद्य मिश्रित रचनाओं का उल्लेख है। ये गद्य पद्य मिश्रित रचनाएँ अधिकतर पद्यात्मक साहित्य की गद्य टीकाएँ हैं और अपेक्षाकृत बाद की हैं। उनमें से अधिकांश १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में लिखी गई हैं। इन टीकाओं में से बहुत कम प्रामाणिक छपे हुए रूप में उपलब्ध हैं।

संकलन---गीतावली तथा विनयपत्रिका---साहित्य प्रेमियों के अत्यन्त प्रिय ग्रंथ है। उनकी तीसरी महत्त्वपूर्ण ब्रजभाषा रचना कवितावली है, जो साधारणतया दरबारी कविता में प्रयुक्त होने वाले कवित्त और सवैया छन्दों की शैली में है। इसका विषय कृष्ण लीला न हो कर रामचरित है। गोस्वामी तुलसीदास की ब्रजभाषा रचनाओं में अवधी का प्रभाव कुछ न कुछ मिल जाता है, जैसे **आपको** के लिए **रावरो** (क० २-४), **है** के लिए **अहइ** (क० २-६), **मेरे** के लिए **मोरे** (क० २-३) इत्यादि। इतना सब होते हुए भी गोस्वामी तुलसीदास ब्रज के ख्याति प्राप्त कवियों में गिने जाते हैं, इसलिए प्राचीन ब्रज की परीक्षा करते समय इनकी रचनाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। साधारणतया लेखक किसी दूसरी बोली का प्रयोग करते समय अपनी भाषा की विशुद्धता के संबंध में विशेष सतर्क रहता है। कुछ भी हो उनका अवधी-भोजपुरी प्रदेश का स्थायी निवासी होना उन्हें ब्रज लेखकों की सूची से अलग करने के लिए कोई तर्क नहीं है। साहित्यिक भाषा के रूप में ब्रजभाषा भौगोलिक सीमाओं से सीमित नहीं थी। इसके बाद की शताब्दियों में हम देखेंगे कि ब्रजभाषी प्रदेश के बाहर रहने वाले लेखकों की साहित्यिक देन ब्रजभाषा के संबंध में विशेष महत्त्वपूर्ण है।

४९. नाभादास (१६ वीं शती) यद्यपि रामानंदी सम्प्रदाय के थे तथा पूर्वी प्रदेश के रहने वाले थे किंतु उन्होंने वैष्णव भक्तों की लोकप्रिय छंदोबद्ध जीवनी भक्तमाल को उस समय की प्रतिष्ठित साहित्यिक भाषा ब्रज में ही लिखना उचित समझा। पद्य में होते हुए भी भक्तमाल काव्यमय ग्रंथ नही है। इसका महत्त्व धार्मिक जीवनी और कवि भक्तों के साहित्यिक मूल्यांकन के विचार से अधिक है। उनकी शैली सरल है तथा भाषा साधारणतया विशुद्ध है।

५०. नरोत्तमदास (१६ वीं शती) भी अवध के रहने वाले थे, किन्तु कृष्ण और उनके सहपाठी निर्धन ब्राह्मण सुदामा के मिलन का चित्रण करने वाले अपने अमर खंडकाव्य 'सुदामा चरित' के कारण ब्रजभाषा कवियों में उनका स्थायी स्थान है। साहित्यिक दृष्टिकोण से ब्रज में अन्य कोई खण्ड काव्य कदाचित् इतना सुन्दर नहीं है। यद्यपि सुदामा चरित की शैली में जहाँ-तहाँ पूर्वी बोली का प्रभाव है, जैसे **है** के लिए **आहि** आदि किन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं।

५१. जनता के लिए लिखी गई रचनाओं के इतिहास को छोड़ कर अब वर्ग विशेष अर्थात् शासकों के लिए लिखे गए साहित्य की चर्चा की जाएगी। यह परिवर्त्तन मध्ययुग के उत्तरार्द्ध (१७ वीं और १८ वीं शताब्दी) में हुआ। यह रीति अथवा शृंगार काल कहलाता है। इस काल में कृष्ण संबंधी भक्ति काव्य का लौकिक विकास बुंदेलखंड तथा राजस्थान के हिंदू दरबारों में हुआ। इस साहित्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता संस्कृत ग्रंथों के आधार पर काव्य रीति विशेषतया अलंकार ग्रंथों की रचना में है। इनमें दिए गए उदाहरणों में हमें कवियों की मौलिक काव्य रचना मिलती है। पूर्व मध्य काल के प्रभाव के फलस्वरूप हमें वीर रस पर रचना करने वाले तथा विशुद्ध भक्त कवियों के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं।

५२. ब्रजभाषा के लेखकों की इस नवीन धारा में सर्वप्रथम तथा सब से प्रसिद्ध

नाम केशवदास का है, जिनका संबंध बुंदेलखण्ड में ओरछा राज्य से था। उनके प्रसिद्ध ग्रंथों में छंदों के उदाहरण देने के लिए लिखी गई रामकथा संबंधी रामचन्द्रिका, अलंकार विषय पर कविप्रिया और शृंगार रस के दृष्टिकोण से नायक नायिका भेद पर लिखी गई रसिकप्रिया है। केशव की शैली अत्यन्त जटिल तथा संस्कृत प्रभाव से ओत प्रोत है। नन्ददास की भाँति असाधारण छन्दों में शब्दों के रूप बदल कर प्रयोग करने के संबंध में वे बहुत स्वतंत्रता लेते हैं। बुन्देली का भी कुछ प्रभाव उनकी रचनाओं पर है, किन्तु व्याकरण की अपेक्षा यह प्रभाव शब्द-भण्डार पर अधिक है। इतना सब होते हुए भी व्रजभाषा कवियों में वे बहुत बड़े आचार्य समझे जाते हैं तथा नवरत्नों में उन्हें स्थान दिया गया है।

५३. दिल्ली के एक पठान सरदार रसखान (१७ वीं शती) भी विट्ठलनाथ के शिष्य हो गए थे, यहाँ तक कि २५२ वार्ता में उन्हें स्थान दिया गया है। उनकी मृत्यु के बाद उनका स्मृति चिह्न अर्थात् छत्री हिन्दू ढंग से बनाई गई, जिसे वैष्णव भक्त अब भी आदर की दृष्टि से देखते हैं। वे भक्त कवि थे और कवित्त तथा सवैया की शैली में अपने उपास्य देव श्रीकृष्ण के प्रति उन्होंने अनन्य प्रेम प्रकट किया है। रसखान के प्रत्येक छंद से उनके भक्त हृदय की सचाई प्रतिबिम्बित होती है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में हमें विशुद्धता और अनोखा प्रवाह मिलता है, जो हिन्दू लेखकों में प्रायः कम पाया जाता है। रसखान की भाषा विदेशी प्रभाव से मुक्त है, और उनके ग्रंथ शुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा के उत्कृष्ट उदाहरण समझे जाते हैं।

५४. व्रज प्रदेश के उत्तरी जिले बुलन्दशहर के निवासी सेनापति (१७ वीं शती) की व्रज रचनाओं में हम भक्ति तथा अलंकारयुक्त शैली के प्रभावों का संयोग पाते हैं। उनकी रचनाओं का सर्वोत्तम संकलन कवित्त और सवैया शैली में लिखा गया 'कवित्तरत्नाकर' है, जिसके तीसरे तरंग में उनका प्रसिद्ध षट् ऋतु वर्णन है। छहों ऋतुओं का वर्णन करने वाला यह अध्याय हिंदी में प्रकृति वर्णन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है। यद्यपि उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिन वृन्दावन में व्यतीत किए थे, किन्तु अपनी रचनाओं से वे भगवान विष्णु के कृष्ण रूप की अपेक्षा राम रूप के ही विशेष भक्त प्रतीत होते हैं। मिश्र-बन्धुओं ने नवरत्नों के बाद प्राचीन लेखकों में उन्हें सर्वोच्च स्थान दिया है। सेनापति की भाषा में कहीं कहीं हमें अवधी रूप भी मिल जाते हैं, जैसे **रावरे** (३०)। पूर्वी व्रज रूप जैसे सामान्य रूप **तुम्हारे** के लिए *तिहारे* तथा **हो** के लिए *हुतो* (२५) भी मिलते हैं। अवधी प्रभाव कदाचित् रामानन्दी सम्प्रदाय के भक्तों के सम्पर्क के कारण हो सकता है, जो अधिकतर पूर्वी ही रहे होंगे। यह प्रभाव रामानन्दी सम्प्रदाय के साहित्य के कारण भी संभव है।

५५. सात सौ दोहा छन्दों में लिखी गई प्रसिद्ध 'सतसई' के रचयिता बिहारीलाल शृंगारी कवियों में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। यद्यपि अलंकारशास्त्र पर लिखा गया उनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है किन्तु सतसई को देखने से यह स्पष्ट पता चलता है कि उसका अधिकांश काव्य शैली के अनेक नियमों के प्रदर्शन के हेतु लिखा गया है। उनका बाल्यकाल

ग्वालियर में बीता था, तथा युवावस्था मथुरा में ससुराल में व्यतीत हुई थी। तरुणावस्था में ही वे पड़ोस के राजस्थान जयपुर राज्य में राजकवि हो गए थे। यद्यपि बिहारी लाल को साधारणतया शुद्ध ब्रज का लेखक मानते हैं, किन्तु कुछ पूर्वी रूप भी उनकी रचना में मिल जाते हैं, जो कदाचित् पूर्वी लेखकों के ब्रज के प्रयोग के कारण साहित्यिक ब्रज का अंग बन गए थे तथा बाहरी नहीं समझे जाते थे, जैसे रावरे (८५-२), वाको के लिए उहिँ (७७-१)। निःसन्देह बिहारी संक्षिप्त शैली के कुशल मर्मज्ञ हैं और इसी कारण वे कठिन लेखक भी माने जाते हैं।

५६. स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा सम्पादित बिहारी सतसई का सटीक संस्करण 'बिहारी रत्नाकर' प्राप्त ब्रजभाषा ग्रंथों में एक ऐसी रचना है जो अनेक हस्तलिखित पोथियों को सावधानी से देखकर सम्पादित की गई है। सम्पादक ने पाठों में एकरूपता ला दी है, यद्यपि प्राचीन हस्तलिपियों में यह नहीं मिलती। उदाहरण के लिए उन्होंने समस्त अकारान्त संज्ञाओं को उकारान्त बना दिया है, यद्यपि ऐसे रूप पोथियों में कहीं कहीं ही मिलते हैं। क्योंकि कुछ ब्रज परसर्गों में अनुनासिकता मिलती है इसलिए उन्होंने समानता लाने के लिए समस्त परसर्गों को अनुनासिक कर दिया है और इस प्रकार हमें सर्वत्र कौं (१४७), सौं (३४), तैं (३), वैं (१४६) ही मिलते हैं। मूल पाठ को बनाए रखने के स्थान पर इस प्रकार उन्होंने अपने संस्करण में एक कृत्रिम समानता ला दी है, जो कदाचित् सतसई के मूलरूप में वास्तव में विद्यमान न थी।

५७. अवधी क्षेत्र के निकट पूर्वी जिले कानपुर के निवासी (१७ वीं शती) मतिराम और भूषण भाई थे। दोनों ही हिन्दी अलंकार शास्त्र के मान्य आचार्य माने जाते हैं किन्तु दोनों में इतना अन्तर है कि जहाँ मतिराम ने अपने उदाहरण शृंगार रस में दिए हैं, वहाँ भूषण ने अपने उदाहरणों को केवल वीररस तक ही सीमित रखा है। शैलीकार के रूप में तथा अलंकार शास्त्र के पण्डित के रूप में मतिराम भूषण से श्रेष्ठ थे। मतिराम राजस्थान में बूँदी दरबार में बहुत दिनों तक थे। उनकी रचनाओं में अलंकार विषय पर ललितललाम, रस संबंधी ग्रंथ रसराज तथा सतसई अधिक प्रसिद्ध हैं। कुछ अन्य पूर्वी लेखकों की भाँति उनकी रचनाओं में भी पूर्वी ब्रज रूप अधिक मिलते हैं।

५८. भूषण कवि, जिनका यह वास्तविक नाम न हो कर कदाचित् उपाधि थी अनेक हिन्दू राज दरबारों में रहे, जिनमें से प्रधान बुन्देलखण्ड में पन्ना के छत्रसाल, तथा शिवाजी और साहु के दरबार थे। वे मुगल साम्राज्य के पतनकाल में हिन्दूराष्ट्र के जागरण का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार वे हिन्दू राष्ट्रीयता के कवि हैं, भारतीय राष्ट्रीयता के नहीं। यह दूसरी भावना उस समय तक बिल्कुल अज्ञात थी। इससे पूर्व वीर गाथा काल के कवि अपने संरक्षकों की व्यक्तिगत वीरता का चित्रण करते थे। उस काल में हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना भी प्रधान नहीं थी। भूषण की सर्व प्रसिद्ध रचना अलंकारों पर है जो 'शिवराज भूषण' के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु अलंकार शास्त्र पर लिखे गए ग्रंथ के रूप में यह अधिक प्रामाणिक नहीं है। इसकी भाषा तथा शैली में माधुर्य तथा सरसता की अपेक्षा ओज गुण अधिक है। दरबारी जीवन के निकट सम्पर्क

में रहने के कारण उनकी व्रजभाषा के शब्द भण्डार में फारसी-अरबी शब्दों का प्रतिशत अधिक मिलता है।

५९. अब हम १८ वीं शताब्दी पर आते हैं, जिसका प्रारम्भ महाकवि लाल कहे जाने वाले पन्ना के छत्रसाल के राजकवि गोरेलाल से होता है। लाल का जन्मस्थान तथा निवासस्थान बुन्देलखण्ड में ही था। उनकी प्रसिद्ध रचना छत्रप्रकाश बुन्देलखण्ड का इतिहास चित्रित करने वाली प्रामाणिक रचना है। यह ग्रंथ दोहा और चौपाई की वर्णनात्मक अवधी महाकाव्यों की शैली में लिखा गया है। छत्रप्रकाश व्रजभाषा में अपने ढंग का अकेला ग्रंथ है, इसी कारण वर्तमान अध्ययन के लिए रक्खी गई पुस्तकों में इसे भी चुन लिया गया है। भाषा की दृष्टि से पूर्वी रूप इसमें अधिक मिलते हैं, जैसे **आहिं** (१९-२), **तेहि** (३-१११)। जायसी और तुलसीदास की रचनाओं का आदर्श एक सीमा तक इस प्रभाव के लिए उत्तरदायी हो सकता है।

६०. इटावा के देव (१८ वीं शती) हिंदी रीतिकाल के दूसरे मान्य आचार्य माने जाते हैं, साथ ही वे प्रौढ़ शैलीकार भी थे। इन्होंने दो दर्जनों से अधिक ग्रंथ लिखे हैं जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना अलंकार शास्त्र पर लिखी गई भावविलास है और शृंगार रस के दृष्टिकोण से एक आदर्श नायिका के सम्पूर्ण दिन के कार्यक्रम का चित्रण करने वाली अष्टयाम नामक पुस्तक है। वे प्रौढ़ काव्य शैली के कुशल ज्ञाता थे फलस्वरूप उनकी रचना में शब्दों की तोड़ मरोड़ नहीं आने पाई है, जैसी कि कुछ अप्रौढ़ लेखकों में मिलती है। **रावरो** (२-२५) इत्यादि पूर्वी रूपों को छोड़ कर, जो कदाचित् उस समय तक साहित्यिक व्रज शैली के अंग बन चुके थे, उनकी भाषा में हमें अन्य किसी बोली का मिश्रण नहीं मिलता।

६१. घनानन्द (१८ वीं शती) रसखान और सेनापति की श्रेणी में आते हैं। वे दिल्ली के मुगल दरबार की कचहरी में थे, किन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में गृहस्थ जीवन छोड़ कर वृन्दावन में रहने लगे थे तथा निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए थे। उनका धार्मिक उत्साह तथा भाषा की परिमार्जित शैली ही ऐसी विशेषताएँ हैं जिसके कारण उनकी रचनाओं का इतना मूल्य समझा जाता है। साधारणतया शुद्ध व्रजभाषा के वे एक आदर्श लेखक माने जाते हैं, किन्तु अधिक निकट से परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि उनकी व्रजभाषा में भी कुछ अवधी रूप पाए जाते हैं, जैसे **आहि** (१९)। इसके अतिरिक्त कुछ खड़ीबोली हिन्दी रूप जैसे **हो** इत्यादि भी कहीं कहीं मिल जाते हैं। वास्तव में वे भक्त कवि थे, आचार्य कवि नहीं।

६२. भिखारीदास अथवा दास (१८ वीं शती) अवध के प्रतापगढ़ जिले के निवासी एक पूर्वी लेखक थे, किन्तु वे भी व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं और प्रमुख आचार्य कवियों की परम्परा में अन्तिम कवि हैं। उन्होंने अलंकार शास्त्र की प्रत्येक शाखा पर लिखा है, किन्तु उनकी प्रसिद्धि का प्रधान कारण काव्यनिर्णय नामक ग्रंथ है, जो संस्कृत में लिखे गए मम्मट के काव्यप्रकाश के आधार पर लिखा गया है। उनकी व्रज पर अवधी का प्रभाव अपेक्षाकृत कुछ अधिक है और यह कदाचित् उनके पूर्वी वातावरण के प्रभाव के कारण है, उदाहरणार्थ *उहि*, *की* (२८-२४), *अहै* (१६-३), *भौ* (२१-२८)।

६३. रचनाओं की लोक प्रियता के दृष्टिकोण से पद्माकर (१८ वीं शती) का स्थान शृंगारी कवियों में बिहारी के बाद आता है। मध्यदेश में बसे हुए तैलंग ब्राह्मणों के वंशज पद्माकर का जन्म बाँदा में हुआ था, और दरबारी कवि होने के कारण उनका सम्बन्ध प्रायः सभी प्रसिद्ध समकालीन हिंदू दरबारों, जैसे सतारा, जयपुर, उदयपुर, ग्वालियर, बूंदी इत्यादि से था। वे शृंगार रस में उदाहरण देने वाली अलंकार-ग्रंथों की परम्परा को चलाते रहे। उनकी प्रसिद्ध रचनाओं में अलंकार संबंधी ग्रंथ पद्माभरण तथा रस संबंधी जगद्-विनोद विशेष प्रसिद्ध हैं। उनकी शैली में भावों की स्पष्टता के साथ साथ एक विचित्र प्रकार का आकर्षण है, जिसने ब्रजभाषा प्रेमियों के बीच उन्हें अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया है। उनकी भाषा में आधुनिक ब्रज के पुट भी स्पष्ट रूप में मिलते हैं। उदाहरण के लिए मध्य ह का लोप किए हुए रूप, जैसे **कहा** अथवा **काह** के लिए **का** बहुधा मिलता है। दो सौ वर्ष पूर्व केशव की चलाई हुई रीति परंपरा के अन्तिम प्रसिद्ध कवि पद्माकर थे।

६४. लल्लूलाल (१७६२-१८२५ ई०) साधारणतया खड़ीबोली के प्रथम गद्य लेखक के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। यह बात प्रायः भुला दी जाती है कि वे ब्रजभाषा के भी लेखक थे। राजनीति शीर्षक उनका हितोपदेश का स्वतंत्र अनुवाद ब्रज की गद्य रचनाओं में द्वितीय महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। उन्होंने ब्रजभाषा का प्रथम व्याकरण भी लिखा है। ब्रज प्रदेश में आगरा में बसे हुए एक गुजराती ब्राह्मण कुटुम्ब में वे उत्पन्न हुए थे। ब्रिटिश सिविलियनों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा देने के लिए कलकत्ता में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा स्थापित फोर्ट विलियम कालेज में वे बहुत समय तक भाषा मुंशी पद पर रहे। उपलब्ध ब्रज गद्य की न्यूनता के कारण यह आवश्यक समझा गया कि ब्रजभाषा के इस अध्ययन में अन्य रचनाओं के साथ 'राजनीति' को भी सम्मिलित कर लिया जाय। लल्लूलाल की ब्रजभाषा में अवधी प्रभाव नहीं है, यद्यपि जहाँ-तहाँ हमें कुछ खड़ी बोली रूप मिल जाते हैं, जैसे *का* (१-४), *माताओं ने* (५-२) इत्यादि।

६५. लल्लूलाल के साथ ही हम १९ वीं शताब्दी में प्रवेश करते हैं, जब से आधुनिक युग का सूत्रपात होता है और फलस्वरूप नई भाषा, नई शैली, नए विषय तथा नए भावों का प्रारम्भ होता है। मध्यदेश के साहित्य एवं भाषा को नई परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के संबंध में संपूर्ण १९ वीं शताब्दी में प्रयत्न जारी रहा। ये प्रयोग २० वीं शताब्दी में पहुँचने पर सफल हो सके। अब साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ीबोली ने पूर्णतया ब्रजभाषा का स्थान ले लिया है। गद्य की महत्ता ने पद्य को पीछे हटा दिया है। प्रचलित पद्य में अनेक प्रकार के नए विषयों तथा पाश्चात्य ढँग के नए साहित्यिक रूपों ने राम कृष्ण संबंधी पद्यात्मक प्राचीन कथानकों अथवा नायिका वर्णन संबंधी उदाहरण उपस्थित करने वाली पद्य रचनाओं का स्थान ले लिया है। किंतु अब भी हिंदी का मध्यकालीन साहित्य, जो मुख्यतः ब्रजभाषा में ही है, उन समस्त प्रदेशों में बड़ी रुचि के साथ पढ़ा जाता है जहाँ हिंदी साहित्यिक भाषा के रूप में मान्य है। ब्रजभाषा के ठेठ प्रदेश में भी अब ब्रजभाषा प्रमुख साहित्यिक भाषा नहीं है। कोई भी पत्रिका अथवा समाचारपत्र ब्रजभाषा में प्रकाशित नहीं होता और न शिक्षा संस्थाओं में ही यह शिक्षा का माध्यम है। हिंदी के

कुछ आधुनिक कवि अब भी ब्रजभाषा में लिखते हैं किन्तु इनके लिए भी यह एक अपरिवर्तनशील आदर्श साहित्यिक भाषा के समान है।

६६. मध्यकालीन ब्रजभाषा साहित्य का परिचय समाप्त करने के पूर्व इसके शब्द भण्डार के विषय में भी यहाँ पर दो शब्द कहना अनुपयुक्त न होगा। मध्यकालीन ब्रजभाषा में तत्सम शब्दों का प्रतिशत बहुत अधिक था। मध्यकालीन ब्रजभाषा की निकट से परीक्षा करने से यह धारणा कि आजकल की साहित्यिक हिंदी अपने मध्यकालीन साहित्यिक रूप की अपेक्षा अधिक संस्कृत शब्दावली ग्रहण कर रही है असत्य ठहरती है। साथ ही मध्यकाल की ब्रजभाषा में तद्भव शब्द विशेष प्रचलित हैं। वास्तव में साधारण साहित्यिक ब्रजभाषा शैली में उनकी ही संख्या अधिक मिलती है। कुछ फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग भी ब्रजभाषा के लेखकों तथा बोलने वालों के द्वारा होता रहा है। ब्रजभाषा के ध्वनि रूप के अनुकूल बनाने के लिए फ़ारसी शब्दों में कुछ रूपान्तर अवश्य हो जाता है। फारसी-अरबी शब्दों का अनुपात ब्रजभाषा में कठिनाई से एक प्रतिशत है। यह उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध ब्रजभाषा कवियों, जैसे हितहरिवंश, नरोत्तमदास, नन्ददास, नाभादास, केशवदास, देव, मतिराम, घनानन्द और लल्लूलाल आदि की रचनाओं में फारसी-अरबी शब्द अपेक्षाकृत कम हैं तथा भूषण में ये अधिक मिलते हैं, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है।[1]

सामग्री के उपयोग की शैली

६७. साहित्यिक ब्रजभाषा की उत्पत्ति, विकास एवं अवनति की संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर दी गई है। उपर्युक्त प्रसिद्ध ब्रजभाषा लेखकों के अतिरिक्त सैकड़ों अप्रसिद्ध लेखक भी हैं जिनके नाम हिंदी साहित्य के इतिहासों में मिलते हैं।[2] इनमें बहुत से लेखकों के ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिंदी खोज के विवरणों में सैकड़ों अप्रकाशित ब्रजभाषा ग्रंथों की चर्चा मिलती है। बहुत बड़ी संख्या देश में वैयक्तिक रूप से पाए जाने वाले ब्रजभाषा ग्रंथों की है जिनका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। इस प्रकार प्राचीन तथा मध्यकालीन ब्रजभाषा का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के सामने सामग्री के अभाव की समस्या नहीं है, जैसी कि अवधी तथा हिंदी की अन्य बोलियों के संबंध में है, बल्कि ब्रजभाषा में तो इन ग्रंथों के बाहुल्य की समस्या है, जिनके चयन तथा निर्णय के लिए पर्याप्त छानबीन की आवश्यकता पड़ती है।

६८. फलस्वरूप मध्यकालीन साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रस्तुत अध्ययन निम्न-लिखित केवल १२ प्रतिनिधि लेखकों पर आधारित किया गया है :—

---

[1] बिहारी की सतसई में विदेशी शब्दों की पूरी सूची के लिए देखिए, ह्यूहर्स्ट, आर० पी०; की 'बिहारी लाल की सतसई में फारसी और अरबी शब्द' जे० आर० ए० एस०, १९१५, पृष्ठ १२२।

[2] प्राचीन ब्रजभाषा लेखकों की पूरी जानकारी के लिए देखिए, विनोद, भाग १-४।

१६ वीं शती : १. सूरदास, २. हितहरिवंश, ३. नन्ददास, ४. नरोत्तमदास, ५. तुलसीदास, ६. नाभादास, ७. गोकुलनाथ ;
१७ वीं शती : ८. केशवदास, ९. रसखान, १० सेनापति, ११. बिहारीलाल, १२. मतिराम, १३. भूषण;
१८ वीं शती : १४. गोरेलाल, १६ देवदत्त, १७. घनानन्द, १८. भिखारीदास, १९. पद्माकर, २०. लल्लूलाल।

इस प्रकार इन तीन शताब्दियों (१६ वीं से १८ वीं) में से प्रत्येक से लगभग आधे दर्जन कवि लिए गए हैं। यह वह समय था जब व्रजभाषा जीवित साहित्यिक भाषा थी। तुलनात्मक दृष्टि से इन लेखकों के महत्व के सम्बन्ध में हम पहले ही परीक्षा कर चुके हैं। प्रत्येक शताब्दी के विभिन्न अंशों तथा विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों से कवियों को छाँटने पर विशेष ध्यान रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न साहित्यिक और साम्प्रदायिक धाराओं के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करने पर भी ध्यान रखा गया है। भाषा की शुद्धता के विचार से जिन व्रज लेखकों की रचनाएँ मान्य मानी जाती हैं, स्वभावतः उन्हें पहले स्थान दिया गया है। उदाहरण के लिए लेखकों के भौगोलिक विभाजन के विचार से सूरदास, नन्ददास, गोकुलनाथ और हितहरिवंश आदि ऐसे कवि हैं जिन्होंने व्रज मण्डल में रह कर रचना की। नरोत्तमदास, तुलसीदास और भिखारीदास अवधी क्षेत्र के निवासी थे किन्तु प्रसिद्ध व्रजभाषा लेखक थे। केशवदास और लाल ने अपना अधिक समय बुन्देलखण्ड में बिताया। बिहारी राजस्थान में जयपुर दर्बार में रहे, और मतिराम, भूषण, देव तथा पद्माकर ने अपना सम्पूर्ण जीवन मध्यभारत और राजस्थान में एक दरबार से दूसरे दरबार में घूमने में बिताया था। इसी प्रकार रीतिकालीन शृंगारी कवियों के अतिरिक्त इस सूची में हमें रामानन्दी सम्प्रदाय (जैसे तुलसीदास, नाभादास), पुष्टिमार्ग (जैसे सूरदास, विट्ठलनाथ, नन्ददास) तथा राधावल्लभी सम्प्रदाय (जैसे हितहरिवंश) के कवि मिलते हैं। व्रजभाषा के मुसलमान लेखकों के प्रतिनिधि स्वरूप रसखान हैं। बीसवीं शताब्दी के व्रजभाषा के मर्मज्ञ जगन्नाथदास रत्नाकर के अनुसार बिहारी और घनानन्द की रचनाओं की सहायता से व्रजभाषा का अच्छा व्याकरण तैयार किया जा सकता है।[1] व्रजभाषा के प्रस्तुत अध्ययन में उपर्युक्त दो लेखकों के अतिरिक्त सत्रह अन्य मान्य लेखक सम्मिलित हैं।

६९. अनेक गौण व्रजभाषा लेखकों की रचनाओं की साधारण परीक्षा के अतिरिक्त प्रायः समस्त उपर्युक्त लेखकों के प्रसिद्ध उपलब्ध ग्रंथों का इस अध्ययन में उपयोग किया गया है। साहित्यिक व्रज के उदाहरण जिन रचनाओं से चुने गए हैं उनके संस्करणों का पूरा विस्तार संक्षिप्त नामावली की सूची में लेखकों के नाम के साथ दे दिया गया है।

पूर्ण विचार के बाद यह उपयुक्त समझा गया कि साहित्यिक व्रजभाषा के इस अध्ययन में लल्लूलाल के बाद के १९ वीं तथा २० वीं शती के लेखकों को सम्मिलित न किया जाए,

---

[1] कोशोत्सव स्मारक संग्रह, १९८५ वि०, पृष्ठ ३९६।

क्योंकि इन बाद के लेखकों की भाषा पिछली शताब्दियों के प्रमुख लेखकों की भाषा की नकल मात्र है और फिर इन लेखकों की भाषा में कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो सका है। हिंदी में व्रजभाषा का कोई जीवित विशेष प्रसिद्ध कवि आजकल नहीं है। साधारण लेखक अब भी अनेक हैं। अन्तिम प्रसिद्ध व्रजभाषा मर्मज्ञ कविवर जगन्नाथदास रत्नाकर थे।

इस क्षेत्र में कार्य करने वालों की कठिनाई बढ़ाने के लिए मध्ययुगीन व्रजभाषा लेखकों की रचनाओं के वैज्ञानिक संस्करण भी अभाग्यवश बहुत कम हैं। साधारणतया छपे हुए संस्करण किसी एक हस्तलिपि पर आधारित हैं। इस बात का प्रयत्न किया गया है कि रचनाओं के यथासंभव सर्वश्रेष्ठ संस्करण चुने जायँ। इसके अतिरिक्त इन संस्करणों में पाई गई सामग्री, विशेषतया सूरदास, नन्ददास संबंधी, उपलब्ध हस्तलिपियों में प्राप्त कुछ सम्भव पाठान्तरों के दृष्टिकोण से भी जाँची गई है।

लिपि सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ

७०. व्रजभाषा की हस्तलिपियों के विषय में यहाँ दो शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा। फारसी अरबी अथवा उर्दू लिपि में लिखी हुई कुछ पोथियों को छोड़कर व्रजभाषा की हस्तलिपियाँ साधारणतया देवनागरी में ही पाई जाती हैं, जिनमें कहीं कहीं हस्तलिपि के काल भेद अथवा उनके रचना स्थान के भिन्न भौगोलिक क्षेत्र में स्थित होने के कारण वर्ण विचार सम्बन्धी कुछ रूपान्तर पाए जाते हैं। इनमें से कुछ रूपांतर विभिन्न ध्वनियों के साधारण परिवर्तनों पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरण के लिए पोथियों में *य* के लिए प्रायः *य़* लिखा जाता है, क्योंकि *य* का प्रयोग अधिकतर *ज* के लिए होने लगा था। उच्चारण के परिवर्तन के कारण यह एक विशेष आवश्यकता को इंगित करता है। *ज्ञ* के लिए *ग्य*, *ब* और *व* दोनों के लिए *ब* अथवा *व*, *व* के लिए नग चिह्न केवल *व*, *श* और *ष* के लिए *स* का प्रयोग इसी प्रकार के अन्य उदाहरण हैं। क्योंकि *ख* के संबंध में भ्रमवश *र व* पढ़े जाने का भय रहता था, इसलिए इसके लिए *ष* का प्रयोग प्रायः किया गया है। कदाचित् *ख* के लिए *ष* का प्रयोग होने के कारण *ष* का उच्चारण उन स्थानों पर भी *ख* हो गया जहाँ इसका मूल संघर्षी उच्चारण होना चाहिए।

ठीक स्थिति के विषय में अनिश्चित ही थे। कुछ पश्चिमी ब्रजभाषा भाषी ज़िलों में इनका वर्तमान उच्चारण अर्द्धविवृत स्वरों की भाँति होता है, जब कि शेष क्षेत्र में साधारणतया संयुक्त ऐ औ जैसा उच्चारण होता है। इन ध्वनियों का शुद्ध अर्द्धविवृत उच्चारण ही कदाचित् इनके स्थान पर मूल स्वरों के प्रयोग के लिए उत्तरदायी है।

७२. ब्रजभाषा साहित्य देवनागरी लिपि में छपा है। इस भाषा में पाई जाने वाली विशेष ध्वनियों के लिए कोई नवीन चिह्न नहीं प्रयुक्त किये जाते हैं, इसीलिए ह्रस्व तथा दीर्घ ए, ओ दोनों ए, ओ से प्रकट किए जाते हैं और अर्द्धविवृत स्वर संयुक्त स्वरों ऐ, औ के द्वारा अथवा मूल स्वरों ए, ओ के द्वारा प्रकट किए जाते हैं।

लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव् इंडिया में ग्रियर्सन ने ह्रस्व ए, ओ के लिए विशेष लिपिचिह्नों का प्रयोग किया है। हिंदी भाषा के इतिहास में लेखक ने ह्रस्व तथा अर्द्धविवृत रूपों के लिए विशेष नवीन लिपि-चिह्न दिए हैं। इन नवीन चिन्हों का प्रयोग साधारण ब्रजभाषा-मुद्रकों द्वारा नहीं किया गया है।

४. आधुनिक ब्रजभाषा

बोली का विस्तार तथा सीमाएँ

७३. धार्मिक दृष्टिकोण से ब्रज मण्डल की सीमा मथुरा ज़िले तक सीमित है किन्तु ब्रज की बोली इस सीमित क्षेत्र की सीमा के बाहर भी प्रयुक्त होती है। इसका प्रसार निम्नलिखित प्रदेशों में है:—उत्तर प्रदेश के मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायूं तथा बरेली के ज़िले; पंजाब के गुड़गाँव ज़िले की पूर्वी पट्टी; राजस्थान में भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुर का पूर्वी भाग; मध्यभारत में ग्वालियर का पश्चिमी भाग। क्योंकि ग्रियर्सन का यह मत लेखक को मान्य नहीं है कि कन्नौजी स्वतन्त्र बोली है (§ ७५) इसलिए उत्तरप्रदेश के पीलीभीत, शाहजहांपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा और कानपुर के जिले भी ब्रज प्रदेश में सम्मिलित कर लिए गए हैं।

लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव् इंडिया (भाग ९, खंड १, पृ० ७०, पृ० ३१९) में ब्रज क्षेत्र के अन्तर्गत नैनीताल तराई को भी सम्मिलित कर लिया गया है, किन्तु लेखक की निजी जानकारी के अनुसार नैनीताल तराई की मण्डियों के निवासी प्रायः खड़ीबोली क्षेत्र के हैं और तराई के अन्य भागों में वे कुमायूंनी अथवा भूटिया हैं, जो जाड़ों में पहाड़ों से नीचे उतर कर अस्थायी रूप से वहाँ रहते हैं इसलिए यही ठीक होगा कि ब्रजभाषा क्षेत्र में नैनीताल के तराई भाग को सम्मिलित न किया जाय।

७४. आधुनिक ब्रजभाषा क्षेत्र उत्तर तथा दक्षिण में हिंदी की दो अन्य पश्चिमी बोलियों अर्थात् खड़ीबोली तथा बुन्देली से घिरा हुआ है। इसके पूर्व में हिंदी की पूर्वी बोली अवधी का क्षेत्र है और पश्चिम में राजस्थानी की दो पूर्वी बोलियाँ अर्थात् मेवाती और जयपुरी बोली जाती हैं। आधुनिक ब्रज लगभग १ करोड़ २३ लाख जनता के द्वारा बोली जाती है और लगभग ३८,००० वर्ग मील के क्षेत्र में फैली हुई है। तुलनात्मक

दृष्टि से ब्रजभाषा बोलने वालों की जनसंख्या आस्ट्रिया, बलगेरिया, पोर्तुगाल अथवा स्वीडेन की जनसंख्या से लगभग दुगनी है और डेनमार्क, नार्वे अथवा स्विटजरलैण्ड की जनसंख्या से चौगुनी है। इस बोली का क्षेत्र आस्ट्रिया, हंगरी, पोर्तुगाल, स्काटलैण्ड अथवा आयरलैण्ड से अधिक है।

क्या कनौजी भिन्न बोली है ?

७५. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव् इण्डिया (भाग ९, खंड १, पृ० १) में हिंदी की बोलियों की चर्चा के प्रारम्भ में ही सर जार्ज ग्रियर्सन का कथन है कि 'वास्तव में कन्नौजी ब्रज भाषा का ही एक रूप है किंतु जनमत के कारण इस पर अलग विचार किया जा रहा है'। आगे चलकर कन्नौजी की चर्चा करते हुए सर ग्रियर्सन इसकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। किन्तु सर्वे की व्याख्या के अनुसार ही कन्नौजी की विशेषताएँ (लिं० स० इं०, भाग ९, खंड १, पृ० ८३) ब्रज क्षेत्र के किसी न किसी भाग में पाई जाती हैं। औकारान्त के स्थान पर ओकारान्त के प्रयोग का चुना जाना ग्रियर्सन के अनुसार भी ब्रजभाषा में किसी न किसी रूप में पाया जाता है। व्यंजनांत संज्ञाओं में **उ** अथवा **इ** का जुड़ना कन्नौजी की विशेषता नहीं है। ऐसा अवधी में सामान्यतया होता है और प्रायः उन सभी जिलों में ऐसा उच्चारण पाया जाता है जो अवधी क्षेत्र के निकट हैं। यह विशेषता साधारणतया पश्चिमी क्षेत्र के ग्रामीण प्रदेशों में भी पाई जाती है। मध्य *-ह-* का लोप तो एक ऐसा लक्षण है जो न केवल आधुनिक ब्रज के समस्त रूपों में ही मिलता है वरन् हिन्दी की अन्य बोलियों में भी मिलता है। कुछ पुंल्लिंग आकारांत संज्ञाओं जैसे *लरिका* आदि के अन्त्य *अ* का विकृत रूप एकवचन में *-ए* में न बदलना भी एक ऐसी विशेषता है जो समस्त ब्रज क्षेत्र में पाई जाती है। संकेतवाचक सर्वनाम *वो* और *जो* कुछ पूर्वी ब्रजभाषा क्षेत्रों में पाए जाते हैं, जहाँ ग्रियर्सन ही के अनुसार ब्रजभाषा बोली जाती है, जब कि *वहु* और *यहु* अवधी के प्रभाव के कारण हैं। *लरिका ने चलो गओ* जैसे प्रयोग एक व्यक्तिगत विशेषता हो सकती है। भूतकालिक कृदन्त के रूप जैसे **दओ, लओ, गओ** इत्यादि और सहायक क्रिया के भूतकाल के रूप *हतो* इत्यादि ब्रज क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रचलित हैं। **रहौ** अवधी से लिया गया रूप है और *थो* रूप *त्* में अन्त होने वाले भूतकालिक कृदन्त के रूपों के बाद पाया जाता है। *थो* रूप हिंदी *था* के सादृश्य पर भी हो सकता है। इस प्रकार कनौजी की ऐसी कोई विशेषता नहीं बचती जो ग्रियर्सन के अनुसार ब्रजक्षेत्र में न पाई जाती हो। उपर्युक्त तुलनात्मक परीक्षा के आधार पर कनौजी को निश्चित रूप से ब्रजभाषा के अन्तर्गत रखना चाहिए।

वर्तमान ब्रजभाषा के उपरूप

७६. वर्तमान ब्रज के अन्तर्गत कोई स्पष्ट भौगोलिक उपभाग नहीं मिलते हैं। इस कारण से विभिन्न उपभागों को ढूँढने का प्रयास निष्फल ही सिद्ध होता है। फिर भी कुछ भाषागत प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनके आधार पर इस बोली को तीन प्रमुख भागों में

विभाजित किया जा सकता है, अर्थात् पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी। मैनपुरी, एटा, इटावा, बदायूं, बरेली, पीलीभीत, फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, हरदोई और कानपुर की बोलियाँ पूर्वी ब्रज के अन्तर्गत आती हैं। इनमें अन्तिम तीन जिले अवधी क्षेत्र के निकट हैं, और इसलिए इन ज़िलों की स्थानीय बोलियों में हमें अवधी रूपों का विशेष मिश्रण मिलता है। इन तीन ज़िलों के बाद पड़ने वाले पीलीभीत और फर्रुखाबाद ज़िलों की बोलियों पर भी अवधी का प्रभाव कहीं कहीं पाया जाता है। इस प्रकार ब्रजभाषा के इन दस पूर्वी ज़िलों में से अन्तिम पाँच सीमान्त जिलों में पड़ोस की अवधी बोली का प्रभाव मिलता है। अन्य पाँच ज़िले इस प्रकार के विशिष्ट बाह्य प्रभाव से स्वतंत्र हैं। बरेली और बदायूं ज़िलों के उत्तरी पश्चिमी भागों में खड़ीबोली का कुछ कुछ प्रयोग मिलने लगता है किन्तु वह अधिक स्पष्ट नहीं है।

७७. मथुरा, आगरा, अलीगढ़ और बुलन्दशहर की बोली पश्चिमी अथवा केन्द्रीय ब्रज मानी जा सकती है। इस रूप को सर्वमान्य विशुद्ध ब्रज भी कहा जा सकता है। बुलन्दशहर के उत्तरी भाग की बोली खड़ीबोली क्षेत्र के अधिक निकट होने के कारण पड़ोस की इस बोली के रूपों से मिश्रित है। इसके अतिरिक्त गूजरों की अधिक जनसंख्या होने के कारण, जिनकी बोली में कुछ विशेष भाषागत विशेषताएँ होती हैं, इस जिले की बोली में कुछ अन्य विषमताएँ भी मिलती हैं। भरतपुर, धौलपुर, करौली, पश्चिमी ग्वालियर और पूर्वी जयपुर की बोली पश्चिमी यद्यपि केन्द्रीय ब्रज से मिलती-जुलती बोली है, किन्तु इसमें कुछ राजस्थानी के चिह्न मिलने लगते हैं, इसलिए इसे दक्षिणी ब्रजभाषा कहना अधिक उपयुक्त होगा।

७८. ब्रजभाषा के इन उपरूपों में अन्तर के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे *–य–* सहित भूतकालिक कृदन्त (जैसे *चल्यौ* अथवा *चल्यो*) समस्त पश्चिमी और दक्षिणी ज़िलों में पाया जाता है, जब कि बिना *–य–* वाले रूप (*चलो*) केवल पूर्वी ज़िलों में ही मिलते हैं। *ब* क्रियार्थक संज्ञा, *ग* भविष्य, सहायक क्रिया का भूतकालिक कृदन्त रूप *हो*, उत्तम पुरुष सर्वनाम रूप *हौं* और प्रश्नवाचक सर्वनाम *को* पश्चिमी और दक्षिणी क्षेत्र के अधिकांश जिलों में, विशेषतया विशुद्ध ब्रज रूप पाए जाने वाले केन्द्र, मथुरा और आगरा में मिलते हैं, जब कि *न* क्रियार्थक संज्ञा, *ह* भविष्य, सहायक क्रिया का भूतकालिक कृदन्त रूप *हतो*, उत्तम पुरुष सर्वनाम रूप *मैं*, प्रश्नवाचक सर्वनाम रूप *कौन* पूर्वी क्षेत्र में मिलते हैं। कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो एक दूसरे क्षेत्र में आपस में मिलती हैं। जैसा कि पहिले ही कहा गया है कि ब्रजभाषा का इन तीन अथवा दो भागों में विभाजन विषय निरूपण की सुविधा के विचार से ही है, भाषा विषयक विशेषताओं के दृष्टिकोण से उतना नहीं है।

७९. भौगोलिक परिस्थितियों के कारण होने वाले रूपान्तरों के अतिरिक्त धर्मगत जातिगत, वर्गगत भेद भी लोगों की बोली में अन्तर ला देते हैं। किसी मुसलमान ग्रामीण की ब्रजभाषा उसके पड़ोसी हिंदू की बोली से कुछ भिन्न हो सकती है। पहले वाले की बोली में कुछ खड़ीबोली रूपों के साथ कुछ फ़ारसी शब्द भी अधिक मिलेंगे। उदाहरण के लिए लेखक ने अपने गाँव में कुछ मुसलमान कृषकों को साधारण रूप *गओ हो* के

स्थान पर *गया हो* अथवा *सवेरे* के लिए *फ़जर*, *सुक्कुर* (शुक्रवार) के लिए *जुम्मा* बोलते हुए पाया है। इसी प्रकार की स्थिति ब्राह्मण किसान की है, जो अपनी जातिगत उच्चता प्रदर्शित करने के लिए विशुद्ध बोली में अस्वाभाविक रूप से कुछ भद्दे खड़ीबोली रूपों के साथ अधिक संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग करता है। उदाहरण के लिए जिला मथुरा के राया गांव के एक ब्राह्मण की बोली के उदाहरण में मुझे निम्नलिखित वाक्य मिला : *जब या ने क्या काम करो कि जो कुछ माल हाथ लगो सो लियो* यहाँ ब्रज रूप *कहा कछु* के स्थान पर हिन्दी रूप *क्या* और *कुछ* का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार बुलन्दशहर के गूजरों की बोली, जो एक वर्ग-जाति की बोली है, अपनी कुछ निजी विशेषताएँ रखती हैं। इस तरह की विशेषताओं की चर्चा इस पुस्तक में स्थान स्थान पर कर दी गई है।

८०. बोली का विशुद्धतम रूप बड़े शहरों से दूर गाँवों में रहने वाली निम्न जातियों के वृद्ध हिन्दू कृषकों में मिलता है। छोटे बच्चों की बोली में खड़ीबोली हिंदी के प्रभाव की अधिक संभावना पाई जाती है, क्योंकि ब्रज प्रदेश में भी गाँव के स्कूलों की शिक्षा का माध्यम खड़ीबोली ही है। शिक्षा का प्रतिशत बहुत कम होने के कारण इस प्रकार का प्रभाव अधिकतर अप्रत्यक्ष रूप से किसी पढ़े लिखे बराबर आयु वाले के बोलने की नकल के कारण अधिक होता है, प्रत्यक्ष रूप से बहुत कम। पुरुषों और स्त्रियों में स्त्रियों की भाषा में खड़ीबोली अथवा अन्य पड़ोसी बोलियों का सब से कम मिश्रण रहता है क्योंकि दूसरी भाषा बोलने वालों के साथ सम्पर्क कम होने तथा शिक्षा के अभाव के कारण इस प्रकार के प्रभावों की बहुत कम संभावना स्त्रियों में रहती है। स्त्रियों की बोली के अधिक नमूने एकत्रित कर सकना सम्भव नहीं हो सका क्योंकि विशेष पर्दा न होने पर भी स्त्रियों से अधिक संपर्क भारतीय सामाजिक रिवाज के कारण संभव नहीं होता है।

गाँव, क़सबा तथा नगर की बोली

८१. गाँवों और छोटे क़सबों में, जो गाँव से बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं, लोगों को आपस में एक दूसरे से मिलने-जुलने के अधिक अवसर मिलते हैं। इसके अतिरिक्त बड़े शहरों के मोहल्लों के विभाजन के रूप में विभिन्न जातियों का अलगाव बहुत कम होता है, इसीलिए खड़ीबोली अथवा अन्य बोलियों का प्रभाव भी बहुत कम मिलता है। उदाहरण के लिए लेखक के गाँव[1] में लेखक का घर, जो एक कायस्थ घराना है, ब्राह्मणों, मुसलमानों, कुम्हारों और हिंदू नाइयों से घिरा हुआ है, और सभी जातियों के लोग नित्य संध्या समय एक स्थान पर एकत्रित हो कर बातें करते हैं तथा हुक्का पीते हैं। गाँव में कभी कभी कुछ मुहल्ले इस प्रकार के होते हैं जिनमें कोई जाति विशेष ही रहती है, किन्तु गाँव की आबादी के बहुत अधिक न होने के कारण उनकी जनसंख्या सीमित ही रहती है। इस प्रकार गाँवों में अधिक जातियाँ निकट सम्पर्क में आती हैं,

---

[1] गाँव [illegible], डाकखाना [illegible], जिला बरेली।

इसलिए गाँवों की वोली में अधिक एकरूपता मिलती है तथा अन्य वोलियों का कम से कम मिश्रण मिलता है।

उदाहरणार्थ मेरे पैतृक निवासस्थान, गाँव शकरस (डा० वहेड़ी, जि० वरेली, उत्तर प्रदेश) की जनसंख्या १९३५ में लगभग १६०० थी और वसे हुए भाग की लम्वाई लगभग १००० गज़ तथा चौड़ाई १०० गज़ थी। गाँव का क्षेत्रफल चारों ओर के वागों तथा खेतों आदि को मिलाकर लगभग ९०० एकड़ था, जिसका ⅘ भाग जोता जाता था। इससे सरकार को १७०० रु० तथा डिस्ट्रिक्ट वोर्ड को ६५ रु० आमदनी होती थी। सरकार द्वारा गाँव में एक अपर प्राइमरी स्कूल भी खुला हुआ था, जिसमें कुल ४० लड़के थे। स्कूल के अध्यापक का वेतन २०) था; पटवारी का वेतन १५) तथा चौकीदार का भत्ता ५) प्रति मास था। स्कूल पड़ोस के कई गाँवों की आवश्यकता की पूर्त्ति करता था, इसी प्रकार चौकीदार भी पड़ोस के छोटे छोटे गाँवों की फ़ौज़-दारी आदि की सूचनाएँ पुलिस थाने में देता रहता था। गाँव के वस्ती वाले भाग में पेशेवर जातियों के विचार से घरों का विभाजन था, उदाहरणार्थ जुलाहों, मज़दूरों, मेहतरों, काछियों, सुनारों इत्यादि के घरों के समूह एक एक जगह थे।

८२. वड़े कसवों तथा नगरों में भाषा विषयक परिस्थिति अन्य प्रकार की होती है। ये वहुधा किसी जाति अथवा विरादरी विशेष के आधार पर कई मुहल्लों में वँटे रहते हैं। उदाहरण के लिए साधारणतया यह विभाजन दो प्रधान हिस्सों में रहता है—हिन्दू मुहल्ले और मुसलमान मुहल्ले। नगर के हिन्दू भाग में भी प्रायः भिन्न-भिन्न विशेष वर्गों या जातियों की पृथक्-पृथक् वस्तियाँ होती हैं जैसे साहूकारा, काश्मीरी टोला, खत्री वाड़ा, गुजराती मुहल्ला इत्यादि। इस प्रकार यदि मोहल्ले के नाम के साथ जाति न भी जोड़ी जाय तो भी यह पता चल जाता है कि अमुक मुहल्ले में इस जाति विशेष की वहुलता है। इस प्रकार का विभाजन एक प्रकार से सनातनी प्रभाव के रूप में कार्य करता है तथा वोलियों के भेदों को सुरक्षित रखने में सहायक होता है। ये भेद स्त्रियों की वोली में अधिक सुरक्षित रहते हैं और कुछ मात्रा में पुरुषों की भाषा में भी पाए जाते हैं।

व्रजप्रदेश में नगरों में भी साधारणतया हिन्दू स्त्रियाँ व्रजभाषा वोलती हैं, किंतु पुरुष प्रायः दो भाषाएँ वोलते हैं—घरों में तथा सीमित क्षेत्रों में फ़ारसी, संस्कृत तथा अंग्रेजी शब्दों के साथ व्रज का प्रयोग करते हैं, तथा वाहर वाज़ार, दफ्तर अथवा स्कूल में खड़ीवोली का प्रयोग करते हैं। काश्मीरी, खत्री तथा कुछ उच्च शिक्षित हिन्दुओं के घरानों में फ़ारसी अथवा संस्कृत तथा स्थानीय वोलियों के मिश्रण के साथ खड़ी वोली को ही अपना लिया गया है।

८३. कुछ नगर उपर्युक्त साधारण प्रवृत्ति के अपवाद स्वरूप भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ मथुरा जैसे धार्मिक हिन्दू नगर में पुरुष वर्ग द्वारा घर तथा सीमित क्षेत्र के वाहर भी जन वोली का अधिक प्रयोग होता है। आगरा और वरेली में मुसलमानों की अधिक जन संख्या होने के कारण नगर में जन वोली वहुत कम सुनाई पड़ेगी। फिर हिंदुओं की वोली भी वड़े शहरों में मुसलमानों की वोली उर्दू की ओर अधिक झुकाव रखती है।

८४. कानपुर व्रजक्षेत्र की पूर्वी सीमा का सब से बड़ा औद्योगिक नगर है। व्रजभाषा केन्द्र से अधिक दूर होने के कारण तथा अवधी क्षेत्र के अधिक निकट होने के कारण इस नगर में अवधी ही अधिक सुनाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त क्योंकि यह उत्तर प्रदेश का मिलों तथा फैक्टरियों वाला बहुत बड़ा नगर है, इसलिए यहाँ अनेक प्रदेशों के लोगों की आबादी के कारण अनेक बोलियों का मिश्रण पाया जाता है। साथ ही खड़ीबोली हिंदी की ओर अधिक झुकाव मिलता है। इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ, यद्यपि छोटे रूप में ही सही अलीगढ़ ज़िले के हाथरस जैसे कई मिलों वाले कसबों तथा छोटे नगरों में भी पाई जाती हैं। मिलों वाले नगरों की भाषागत समस्या खोज का एक रोचक विषय हो सकता है, जिससे उपयोगी निष्कर्ष निकलने की संभावना है।

शब्दसमूह

८५. व्रजभाषा के शब्दसमूह का अधिकांश भाग भारतीय आर्यभाषा के शब्द समूह से बना है किन्तु ऐसे बहुत शब्द गाँवों में मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति अस्पष्ट है। विदेशियों के सम्पर्क से बहुत से फ़ारसी-अरबी शब्द भी घुल मिल गए हैं और आधुनिक काल में अनेक अंग्रेज़ी भाषा के शब्द बोली में आ गए हैं जिनमें से कुछ अंग्रेज़ी के प्रत्यक्ष प्रभाव के मिट जाने के बाद भी बोली में बने रह जायँगे। साधारणतया ऐसे विदेशी तद्भव शब्द विदेशी संस्थाओं से सम्बन्वित भावों को प्रकट करने के लिए ही उधार लिए गए हैं, जैसे कचहरी, दफ्तर, फ़ौज़, पुलिस, यातायात तथा आदान-प्रदान के साधन, शिक्षा सम्बन्धी अथवा इसी प्रकार की अन्य व्यवस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाली संस्थाएँ। इसके अतिरिक्त विदेशी प्रभाव के कारण देश में प्रयुक्त होने वाली दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के नाम भी अधिकतर विदेशी ही हैं, उदाहरण के लिए वस्त्र, शृंगार, खानपान की वस्तुएँ, कल-पुर्ज़े, मनोरंजन तथा अन्य दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के नाम लिए जा सकते हैं। इस प्रकार के उधार लिए गए सभी विदेशी शब्दों में बोली के शब्दसमूह में मिलाने के पूर्व ही आवश्यक ध्वनि एवं अर्थ संबंधी परिवर्तन कर लिए जाते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि फ़ारसी अथवा संस्कृत तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग कुछ ही वर्गों में, विशेष रूप से कसबों तथा नगरों में, ही पाया जाता है (§ ८२)।

८६. यह देखा जाता है कि कुछ शब्दों का प्रयोग किसी क्षेत्र विशेष तक ही सीमित है, अर्थात् सामान्य साधारण शब्दावली के अतिरिक्त कुछ स्थानीय शब्दावली भी मिलती है। उदाहरण के लिए पश्चिम तथा दक्षिण व्रजप्रदेश में *छोरा* (लड़का) शब्द का प्रयोग मिलता है, जब कि पूर्व की ओर इसका बिल्कुल प्रयोग नहीं है। पूर्व में *छोरा* के स्थान पर *लौंड़ा* अथवा *लड़का* शब्द व्यवहृत होता है। इसी प्रकार *लुगाई सेंत-मेंत*, *जीमनो*, *ब्यारू*, *लत्ता*, *न्यारो*, *पीनस* इत्यादि शब्द अधिकतर पश्चिम-दक्षिण में मिलते हैं, जब कि क्रमशः *बैअरबानी*, *खाली*, *खानो*, *कलेवा*, *कपड़ा*, *अलग* और *पालकी* पूर्व व्रजप्रदेश में प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे हैं जो व्रजक्षेत्र, के बाहर नहीं सुनाई पड़ते। उदाहरण के लिए *थरिया* शब्द अवध के लिए अपरिचित है

जहाँ पर इसके लिए *टाठी* शब्द मिलता है। इसी प्रकार *ताऊ, वेला, मिरजई, पिटउआ,* और इसी तरह के अन्य सैकड़ों शब्द हैं जो हिंदी की अन्य बोलियों क क्षेत्रों में साधारणतया अपरिचित हैं।

८७. गाँवों में बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं जो कृषि, अथवा कृषि सम्बन्धी कलपुर्जों, गाँव के यातायात के साधनों, पशुओं तथा उनके रोगों, घरों के हिस्सों, गाँव की लकड़ी की बनी चीजों, वृक्षों, पौधों तथा घासों, और विशेष धार्मिक और सामाजिक रीतियों से सम्बन्ध रखते हैं। यह ग्रामीण विशेष शब्दावली अधिकतर उसी क्षेत्र के नगर निवासियों के लिए अज्ञात होती है। वास्तव में शब्दसमूह का अध्ययन एक पृथक् विषय है।

५. ध्वनि समूह

८८. ब्रजभाषा में साधारणतया निम्नलिखित ध्वनियों का प्रयोग मिलता है। ये हिंदी की अन्य बोलियों से विशेष भिन्न नहीं हैं:-

स्वर

अ आ इ ई उ ऊ ए ए ओ ओ ऐ (अए) औ (अओ)

ये समस्त स्वर निरनुनासिक तथा अनुनासिक दोनों रूपों में पाए जाते हैं।

व्यंजन

	स्पर्श	अनुनासिक	पार्श्विक लुंठित तथा उत्क्षिप्त	संघर्षी	अर्द्धस्वर
कंठ्य	क् ख्				
	ग् घ्	ङ्			
तालव्य	च् छ्				य्
	ज् झ्	ञ्			
मूर्द्धन्य	ट् ठ्		र् र्ह्		
	ड् ढ्	ण्	ड़् ढ़्		
दंत्य	त् थ्				
	द् ध्	न् न्ह्	ल् ल्ह्	स्	
ओष्ठ्य	प् फ्				व्
	ब् भ्	म् म्ह्		ह्	

पुरानी ब्रज में ऋ लिपिचिह्न मिलता है किन्तु इसका उच्चारण मूल स्वर के समान न होकर रि अथवा इर् था। अधिकांश पोथियों में यह इसी प्रकार लिखा भी गया है।

कुछ अन्य ऐसे लिपि चिह्नों का प्रयोग भी मिलता है जिनका उच्चारण संस्कृत के मूल उच्चारण के अनुरूप था यह अत्यन्त संदिग्ध है। ये लिपिचिह्न निम्नलिखित हैं :—

वृश् ष् : (विसर्ग)

मूल स्वर

८९. मूल स्वर अ आ इ ई उ ऊ ए ओ पुरानी व्रज में शब्दों के आदि मध्य तथा अन्त तीनों स्थानों में पाए जाते हैं।

अ को छोड़ कर शेष समस्त स्वर आधुनिक व्रज में भी इसी प्रकार प्रयुक्त होते हैं। अन्त्य अ साधारणतया नियमित रूप से और मध्य अ प्रायः या तो लुप्त हो जाता है अथवा यह अवधी के समान उदासीन स्वर के समान उच्चरित होता है: **जोरअँबौं** (अ०), **चार्‌अँ** । संयुक्त व्यंजनों के बाद अन्त्य–अ अथवा –अँ नियमित रूप से मिलता है।

९०. बुलंदशहर ज़िले में गूजर **आ** का उच्चारण **ऑ** के समान करते हैं: **आई** को **ऑई**, **मकाए** (मकान) को **मकॉए**, **कहाँ** को **कहौं**।

९१. अवधी के समान आधुनिक व्रज में भी अन्त्य **–इ –उ** की प्रवृत्ति फुसफुसाहट वाला स्वर हो जाने की ओर है। यह उच्चारण अलीगढ़ ज़िले में अधिक प्रचलित है: **ग्यार्‌इ॰, सूज्‌उ॰**।

इन स्वरों की परीक्षा लेखक ने ध्वनि-प्रयोगशाला में की। लेखक के उच्चारण में ये अन्त्य स्वर वर्तमान थे यद्यपि इनका रूप अत्यन्त क्षीण अवश्य था।

९२. ए ओ शब्द के आदि में नहीं मिलते तथा आधुनिक व्रज में केवल स्वर संयोगों में ही पाए जाते हैं: **नओरा, गाए**। क्योंकि साधारण देवनागरी लिपि में इनके लिए पृथक् लिपि चिह्न नहीं हैं अतः इन ह्रस्व स्वरों के लिए भी क्रम से **ए ओ** लिपि चिह्नों का प्रयोग होता है।

९३. ऐ (अए) औ (अओ) संयुक्त स्वरों का उच्चारण कुछ ज़िलों में क्रम से मूल स्वर ऍ ऑ के समान होता है। यह विशेष उच्चारण अलीगढ़, मथुरा, आगरा, बुलंदशहर, धौलपुर और कहीं कहीं एटा ज़िले में मिलता है: **ऍसो** (ऐसा), **हॅ** (है), **ठॅर** (ठहर), **दूसरो, दयो, तो**। इन उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि **ऑ** केवल अन्त्य स्वर के रूप में मिलता है। पूर्वी व्रजप्रदेश में **ऑ** का उच्चारण प्रायः **ओ** होता है।

९४. यहाँ पर इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि प्राचीन व्रजभाषा काव्य में सवैया छन्द के अनेक रूपों का प्रयोग बहुत मिलता है। यह वर्णिक छन्द है, जिसमें लघु गुरु वर्णों के तीन भिन्न भिन्न समूहों के अनुसार गणों का निश्चित क्रम रहता है। सवैया में ए ओ ऐ औ कभी कभी ऐसे स्थलों पर पड़ते हैं जहाँ पर इनका उच्चारण ह्रस्व होना चाहिए, नहीं तो गण के संबंध में कठिनाई उपस्थित हो सकती है। उदाहरणार्थ सवैया की निम्नलिखित पंक्तियों में अधोरेखांकित ए ओ ऐ औ का उच्चारण ह्रस्व होना चाहिए:—

I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S

अवधे स के द्वा रे सका रे गई सुत गो द कै भू पति लै निकसे। (तुलसी का० १-१)

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I

पाहन हौं तो व ही गिरि को जो क रो सि र छ त्र पु रंदर धारन। (रस० १)

S I I S I I S I I S

जाहिरे जागत सी जमु ना। (पद्‌मा० १३)

S I I S I I S I I S I I
जासो न हीं ठह रै ठिक मा न कौं । (घना० २२) . .

पदों में भी, जो मात्रिक छन्दों में प्रायः वद्ध होते हैं, छन्द की आवश्यकता के कारण कभी कभी इन स्वरों को ह्रस्व पढ़ना पड़ता है। इस तरह के कुछ उदाहरण अन्य छन्दों की पंक्तियों में भी मिल जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि देवनागरी के **ए ओ ऐ औ** लिपि चिह्न पद्य साहित्य में क्रम से इन स्वरों के ह्रस्व रूपों के लिए भी प्रयुक्त होते रहे हैं। इनका ह्रस्व उच्चारण आधुनिक ए ओ ऍ ऑ से मिलता जुलता मानना पड़ेगा।

ह्रस्व ए ओ प्रकट करने के लिए कभी कभी **ए ओ** को क्रम से **य् व्** भी लिख दिया जाता था: ***आय गई ग्वालिनि त्यहि अवसर*** (सूर० म० ४), ***सुनि म्वहिं नंद रिसात*** (सूर० म० १२)।

अनुनासिक स्वर

९५. उदासीन स्वर तथा फुसफुसाहट स्वर (§§ ८९, ९१) के अतिरिक्त शेष समस्त मूल स्वर अनुनासिक भी मिलते हैं: ***अँगिया, इँदरसे*** ।

पूर्वी जिलों में कभी कभी अकारण अनुनासिकता के उदाहरण भी मिल जाते हैं:

भूको : *भूँको* (व०)
हाथ : *हाँत* (मै०)
बाकी (फा० बाक़ी) : *बाँकी* (फ़०)

पुरानी ब्रज में जब ए ओ ऐ औ का उच्चारण ह्रस्व होता है तो भी ये अनुनासिक हो सकते हैं: ***यातें*** (तुलसी क० १-१७), ***त्यौं*** (पद्मा० ५-१२), ***ठाड़े हैं*** (तुलसी क० २-१३), ***कहौं*** (सूर० म० ९)।

स्वर संयोग

९६. प्राचीन तथा आधुनिक ब्रज में मूल स्वर संयोग के उदाहरण बराबर मिलते हैं। अधिकांश उदाहरण दो स्वरों के संयोग के पाए जाते हैं: ***गई, दिउली, खाओ*** । स्वर संयोगों में से **अए अओ** संयुक्तस्वर माने जाते हैं और इनके लिए **ऐ औ** स्वतंत्र लिपिचिह्न देवनागरी लिपि में हैं।

९७. जब ए ओ स्वर संयोग में द्वितीय स्वर के समान प्रयुक्त होते हैं तब शाहजहांपुर और निकटवर्ती पूर्वी सीमान्त ज़िलों में इनका उच्चारण क्रम से **इ उ** होता है: ***ऐसी अइसी, गौनो गउनो*** ।

९८. तीन स्वरों के संयोग के भी कुछ उदाहरण पाए जाते हैं: ***सिआई*** (सिलाई)।

९९. स्वर संयोग में एक या अधिक स्वर अनुनासिक भी हो सकता है: ***साईं भाँईं*** ।

१००. स्वर अनुरूपता (vowel assimilation) के उदाहरण बहुत कम पाए जाते हैं:

उ : इ रुपिया : रिपिया (म० ज० पू०)
सुनी : सिनी (म०)
उ : अ चतुर : चतर (बु०)
कुँमर : कँमर (ज० पू०)

ब्रज का स्वर समूह साधारणतया अन्य आधुनिक आर्यावर्त्ती भाषाओं के समान है। कुछ विशेषताओं की ओर यहाँ ध्यान आकृष्ट किया जाता है। ब्रज में अ का उच्चारण विवृत है किन्तु पूर्वी भाषाओं में, भीली में तथा मराठी और पहाड़ी की कुछ बोलियों में इसका उच्चारण अर्द्धसंवृत ऑ अथवा संवृत ओ भी होता है। दक्षिण-पश्चिमी (राजस्थानी और गुजराती) भाषाओं में संयुक्त स्वर ऐ औ का उच्चारण मूल अर्द्धविवृत स्वर ऍ ऑ के समान होता है। इन संयुक्त स्वरों का यह उच्चारण दक्षिणी और पश्चिमी ब्रज के अतिरिक्त पश्चिमी हिंदी की बुंदेली और खड़ीबोली में भी मिलती है।

स्पर्श

१०१. ड् ढ् को छोड़ कर शेष समस्त स्पर्श प्राचीन तथा आधुनिक ब्रज में शब्दों के आदि तथा मध्य में मिलते हैं। अन्त्य स्वर के लुप्त हो जाने के कारण आधुनिक ब्रज में स्पर्श शब्दान्त में भी प्राप्त होते हैं: बन्दर्, सब्।

ड ढ् आधुनिक ब्रज में केवल शब्द के आदि में और प्राचीन ब्रज में केवल तत्सम रूपों में मध्य में भी पाए जाते हैं: डारी, ढाई, क्रीडत (गोकुल ५-२)।

खड़ी बोली में मध्य -ड़- नियमित रूप से पाया जाता है।

१०२. मथुरा और अलीगढ़ में क्यों साधारणतया च्यौं या चौं के रूप में उच्चरित होता है।

क् का च् में परिवर्त्तित होना अनुगामी य् के कारण है।

द् की स् में अनुरूपता के कुछ उदाहरण मिलते हैं:

बादसा : बास्सा (म०क०)
द्वादसी : द्वास्सी (म०)

कारौली के एक उदाहरण में हम -स्स्- के स्थान पर -च्छ- पाते हैं: बाच्छा (बास्सा)

जयपुर पू० में आदि का ब् व् की भाँति बोला जाता है:

बापिस : वापिस
बे : वे

कुछ शब्दों में मध्य का ब् बहुधा किसी अनुगामी अनुनासिक के रहने पर म् के रूप में मिलता है (दे० § १०६, १२८):

आवतु : आम्तु (म० भ० मैं०)
बागवान् : बागमान् (बदा०)
पावैंगे : पामैंगे (म०)

१०३. शब्दों के मध्य अथवा अन्त की ध्वनियों का द्वित्व उत्तरी बुलंदशहर की बोली की एक प्रमुख विशेषता है। थोड़े से उदाहरण कुछ पूर्वीय जिलों में भी मिलते हैं :

ऊपर् : उप्पर् (बु०)
दरवाजो : दरवज्जो (धौ० व०)
कुल् : कुल्ल (वदा०)
वस् : वस्स (व०)

स्पर्शों के द्वित्व उच्चारण की प्रवृत्ति पश्चिमोत्तरी आधुनिक आर्यभाषाओं में नियमित रूप से मिलती है और यह हिंदी की खड़ीबोली में भी आ गई है।

१०४. अनुनासिकों में ङ् ञ् स्ववर्गीय व्यंजनों के पूर्व शब्द के केवल मध्य में आते हैं : सङ्ग, कुञ्ज। आधुनिक व्रज में ञ् का उच्चारण लगभग न् के सदृश ही होना है : कुन्ज्।

१०५. प्राचीन व्रज में ण् स्ववर्गीय व्यंजनों के पूर्व शब्द के मध्य में और अकेला दो स्वरों के बीच में भी मिलता है : कुण्डल (सूर० य० ४), मणि कोठा (गोकुल० १४-१९)। प्राचीन पोथियों में ण् के स्थान में न् का प्रचुर प्रयोग यह बतलाता है कि परवर्ती उच्चारण ही कदाचित् साधारण था। आधुनिक व्रज में ण् प्रायः बिलकुल ही व्यवहृत नहीं होता है। अपने वर्ग के किसी व्यंजन के पहले शब्द के मध्य में उसका होना माना जाता है, किंतु उसका उच्चारण न् से बहुत अधिक मिलता जुलता होता है : ठण्डो (§ ११९)। तथापि बुलंदशहर की बोली में ण् का इतना अधिक प्रयोग होता है कि कभी कभी न् भी ण् की भाँति बोला जाता है : मकौण, (मकान), बहण। आधुनिक बोली में ण् का उच्चारण वास्तव में ड़ँ से मिलता जुलता है।

१०६. न् तथा म् व्रज में शब्द के आदि तथा मध्य में प्रयुक्त होते हैं। आधुनिक व्रज में वे शब्दान्त में भी मिलते हैं : नोन् कन्‌कइया।

न्ह् तथा म्ह् आधुनिक व्रज में केवल शब्दों के आदि तथा मध्य में प्रयुक्त होते हैं : न्हानो, कान्हा, म्हेतर, तुम्हारो।

विशेष-प्राचीन व्रज में अनुस्वार (ं) शुद्ध अनुनासिक स्वर होने के अतिरिक्त लिपि के विचार से अपने वर्ग के स्पर्शों के पहले पाँच अनुनासिकों के लिए भी व्यवहृत होता है।

-म्-के -व्-में परिवर्त्तित होने के कुछ उदाहरण पाए जाते हैं, किंतु ये पूर्वीय व्रज प्रदेश तक सीमित हैं :

सामल् : साबल् (वदा०)
पर्मेसुर् : पर्वेसुर् (ए०)

कुछ उदाहरणों में न् ल् में परिवर्त्तित देखा जाता है :

निकस्यो : लिकस्यो : (बु०), लिकरो (इ०)
नम्बर : लम्बर् (ब०)

पार्श्विक, लुंठित तथा उत्क्षिप्त

१०७. र् तथा ल् ब्रज में शब्द के आदि तथा मध्य में आते हैं और आधुनिक ब्रज में शब्दांत में भी मिलते हैं : *रिस्*, *पुर्* (नगर), *लौंरा* (लड़का), *कल्*।

बुलंदशहर के गूजर अन्त्य र् का उच्चारण ड़् के सदृश करते हैं : *ब्याड़्* (बयार), *जोड़्* (जोर), *माड़्* (मार)।

इस प्रवृत्ति के कुछ उदाहरण पूर्वीय प्रदेशों में भी मिले हैं :

दरी : *दड़ी* (ए०)

नम्बर्दार् : *लम्बड़्दार्* (ब०)

इन ध्वनियों के महाप्राण रूप अर्थात् *र्ह्*, *ल्ह्* केवल आधुनिक ब्रज में मिलते हैं और ये भी शब्द के आदि तथा मध्य में : *ल्हेड़ो* (भीड़), *सल्हा* (सलाह), *र्हैनो* (रहना), *कर्हानो* (कराहना)।

१०८. ड़् तथा ढ़् ब्रज में शब्द के मध्य में प्रयुक्त होते हैं, आधुनिक ब्रज में ये शब्दान्त में भी मिलते हैं : *बड़ो* (बड़ा), *जड़्* (जड़), *चढ़्नो* (चढ़ना), *कोढ़्* (कोढ़)।

बुलंदशहर के गूजर ड़् को ड् के समान बोलते हैं : *बडी*, *लड्* (लड़ाई), *पहाड्*।

ड़् का र उच्चारण बुंदेली की विशेषता है।

१०९. र् के ल् में परिवर्तन के कुछ उदाहरण पश्चिम तथा दक्षिण में मिले हैं :

साऊकार् : *साऊकाल्* (म०)

रेंजु : *लेजु* (रस्सी) (ग्वा० प०)

ल के स्थान पर र् का प्रयोग समस्त ब्रज प्रदेश में प्रचुरता से पाया जाता है :

निकलो : *निकरो* (फ़० ब०)

बीर्बल् : *बीर्बर्* (म०)

तालो : *तारो* (ब०)

ल् के न् में परिवर्त्तन के उदाहरण कभी कभी सारे ब्रज प्रदेश में मिल जाते हैं :

चल्त् चल्त् : *चन्त् चन्त्* (चलते चलते) (मैं०)

लकड़ी : *नकड़ी* (लकड़ी) (ज० पू०)

११०. शब्द के मध्य में प्रयुक्त र् की च् ज् त् द् न या स् में अनुरूपता बहुत अधिक देखी जाती है, विशेष रूप से पूर्वीय प्रदेश में (§ १२६) :

मोर्चा : *मोच्चा* (फ़०)

कर्जा : *कज्जा* (ब०)

कर्ती : *कत्ती* (आ०)

गर्दन् : *गद्दन्* (मैं०)

सेर्नी : *सेन्नी* (ब०)

पर्सिकें : *पस्सिकें* (फ० मैं०)

ग्रामीण बोली में ड़् का र् में परिवर्त्तन प्रायः हो जाता है :

अड़ोसी पड़ोसी : *अरोसी परोसी* (धौ०)
थोड़ी : *थोरी* (फ० अ०)

संघर्षी

१११. प्राचीन व्रज में तीनों ऊष्म ध्वनियों—**श् ष्** तथा **स्**—का प्रयोग पाया जाता है, किन्तु प्राचीन हस्तलिखित पोथियों में हम **श्** के स्थान पर **स्** बहुलता से लिखा हुआ पाते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि **स् श्** का स्थान ग्रहण कर रहा था और **श्** का प्रयोग कदाचित् लिपि परंपरा के अनुरोध से ही होता था : ***सिर*** (बिहारी० १३८)। इसके अतिरिक्त यह अत्यन्त संदिग्ध है कि प्राचीन व्रज में **ष्** का वास्तविक उच्चारण किया जाता था। पोथियों में यह कभी कभी **ख्** के रूप में लिखा मिलता है जिससे यह धारणा होती है कि कम से कम कुछ स्थलों पर इसका उच्चारण **ख्** के सदृश होने लगा था। अन्य स्थलों पर यह **स्** के रूप में लिखा गया है : ***बिसन पद*** (गोकुल ८-११)।

आधुनिक व्रज में केवल **स्** पाया जाता है : ***सचो, बिसेस्***। यह परिस्थिति हिंदी की अन्य समस्त बोलियों में तथा बिहारी में भी मिलती है।

पूर्वी प्रदेश में **-स्-** की अनुगामी **त्** में अनुरूपता के उदाहरण बहुधा देखे जाते हैं (§ १३७) :

बिस्तरा : *बित्तरा* (मै०)
बस्ती : *बत्ती* (ए०)

११२. प्राचीन व्रज में दंत्योष्ठ्य **व्** कभी कभी लिखा हुआ तो मिलता है, किंतु लिपि के विचार से यह प्रायः **ब्** के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता था और कदाचित् **ब्** की भाँति ही इसका उच्चारण भी होता था। आधुनिक व्रज में साधारणतया **व्** नहीं व्यवहृत होता है। तथापि अलीगढ़ की बोली में किसी स्पर्श ध्वनि के बाद आने वाले तथा शब्द के मध्य में प्रयुक्त **व्** के उच्चारण के पश्चात् किंचित संघर्ष होता हुआ प्रतीत होता है : *ग्वाला, ग्वातें* (उससे)।

११३. **ह्** व्रज में शब्द के आदि तथा मध्य में और आधुनिक व्रज में शब्दान्त मे भी मिलता है : **हर्दी, दही, साह्**।

: अर्थात् विसर्ग का प्रयोग केवल प्राचीन व्रज के कतिपय तत्सम शब्दों में ही देखा जाता है : ***अंतःकरन*** (गोकुल १४-१२)।

११४. ह्-कार के लोप के उदाहरण बहुतायत से पाए जाते हैं। शब्द के मध्य तथा अन्त के **ह्** के संबंध में यह प्रवृत्ति विशेष स्पष्टता से लक्षित होती है और समस्त व्रज प्रदेश में इसका प्रायः नियमित रूप से लोप कर दिया जाता है। ग्वालियर पश्चिम में इस परिवर्त्तन के उदाहरण अधिकता से नहीं मिलते हैं :

है : ऐ (क०)
टहल्नो : टैल्नो (म०)
हाँथी : हाँती (इ०)
तुम्हारो : तुमारो (ए०)
मुह् : मूँ (म० व०)
हाथ् : हात् (आ० ज० पू० व० पी०)
तरफ् : तरप् (फ़०)

कुछ उदाहरणों में ह-कार केवल स्थानान्तरित हो जाता है और इस प्रकार वह शब्द के आदि की अथवा अपने पूर्व की किसी अल्पप्राण ध्वनि में महाप्राणत्व ला देता है :

बहुत् : भौत् (म० क० व० पी०)
मुहर् : म्होर् (ज० पू०)
अगहैन् : अघैन् (व०)
इकट्ठो : इखट्टो (व०)

विशेष—१ धौलपुर के एक उदाहरण में शब्द के आदि का स्पर्श, परवर्ती ऊष्म ध्वनि के प्रभाव के कारण महाप्राणयुक्त हो गया है : **पूस्** (महीना) **: फूँस्**।

विशेष—२ इकार के लोप की प्रवृत्ति समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में मिलती है। पश्चिम तथा दक्षिण की भाषाओं का झुकाव इस प्रवृत्ति की ओर विशेष है।

अर्द्धस्वर

११५. अर्द्धस्वर य् शब्द के आदि तथा मध्य में और व्‌ केवल शब्द के मध्य में आते हैं : **याद्, फरिया** (लहँगा), **ज्वान्**।

पोथियों में व् तथा व् दोनों 'व' द्वारा सूचित किए जाते थे। इन ध्वनियों से पार्थक्य प्रकट करने के कारण अर्द्धस्वर के उच्चारण को 'व्' के रूप में लिखा जाता था।

व् राजस्थानी बोलियों में नियमित रूप से मिलता है।

जयपुर पूर्व की बोली में आ के पहले अथवा बाद में -य्- जोड़ देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। कुछ उदाहरण अन्य प्रदेशों में भी मिले हैं :

साम् : स्याम् (शाम) (ज० पू०)
करामात् : करायमात् (ज० पू०)
माने : म्याने (बदा०)
वास्ता : वास्त्या, वास्ताय (क०)

शब्दांश और शब्द

११६. शब्दांश ब्रज में निम्नांकित हो सकते हैं :

(क) ह्रस्व स्वर से युक्त अथवा स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त दीर्घ स्वर : **आ, आए** (आकर), **एआ** (यह)।

काव्य में प्रत्येक मूलस्वर, चाहे वह ह्रस्व हो अथवा दीर्घ, एक शब्दांश माना जाता है। इस प्रकार ह्रस्व से युक्त होने पर प्रत्येक मूल स्वर में दो शब्दांश माने जायँगे : **गाउ** (बिहारी २१) में दो शब्दांश हैं, एक नहीं।

(ख) किसी व्यंजन से युक्त एक ह्रस्व अथवा दीर्घ स्वर : *ईख् उठ्* ।

प्राचीन ब्रज में शब्द कभी भी व्यंजनान्त नहीं होते थे (§ ८९) क्योंकि शब्द के अन्त का व्यंजन परवर्ती स्वर के संयोग से एक शब्दांश बनाता था : **दूध** (सूर० म० ४), **पाक** (गोकुल १-६)

(ग) कोई स्वरयुक्त व्यंजन : *ति-हा-ई, सा-थी, पक्-को*

(घ) किसी संयुक्त व्यंजन के प्रथम अक्षर से युक्त एक ह्रस्व स्वर : *इत्-तो, अर्-कस्*

काव्य में किसी शब्द में प्रयुक्त यह ह्रस्व स्वर दीर्घ के सदृश माना जाता है : *समरत्थ* (केशव ५-२५)। *त्थ्* के पहले का ह्रस्व **अ, आ** का सा महत्त्व रखता है।

(ङ) किसी व्यंजन तथा स्वर से युक्त कोई अकेला व्यंजन अथवा किसी संयुक्त व्यंजन का पहला अक्षर : *चल्, घर्, कित्-तो बन्-डी* । प्राचीन ब्रज में संयुक्त व्यंजन के पहले का ह्रस्व स्वर दीर्घ माना जाता था। इसी से शब्दांश व्यंजन, स्वर तथा दो व्यंजनों के संयोग से बना हुआ माना जाता है और परवर्त्ती स्वर स्वतंत्र शब्दांश के रूप में गृहीत होता है।

११७. संयुक्त स्वर **ऐ औ** तथा मूलस्वर के युग्म के संबंध में यह देखा जाता है कि मूलस्वर तथा संयुक्त स्वर के बीच में प्रायः एक अर्द्धस्वर रहता है : *अइआ अइया; हउआ हउवा; आयै* (गोकुल १-२)

११८. ब्रज में शब्द व्यंजन अथवा स्वर से प्रारंभ हो सकता है। किसी स्वर तथा शब्द के आदि में प्रयुक्त हो सकने वाले व्यंजन से शब्द आरंभ हो सकता है।

शब्दारंभ में एक से अधिक व्यंजन नहीं आ सकता है। फलतः संस्कृत अथवा विदेशी भाषाओं के शब्द के आदि में प्रयुक्त होने वाले संयुक्त व्यंजनों का परिहार या तो उनके पहले अथवा उनके बीच में एक स्वर जोड़ कर कर लिया जाता है : *इस्तुती, किर्किट्* ।

११९. शब्द के मध्य में दो से अधिक व्यंजन नहीं आ सकते हैं और इन्हें निम्नांकित भाँति का होना चाहिए :

(क) स्ववर्गीय व्यंजन : *कुत्ता, बद्द, अस्सी, अम्मा* ।

(ख) अनुनासिक तथा एक व्यंजन : *अङ्कुर, लम्प्, पन्डित्, अन्जन्, कन्कइया* । परवर्ती व्यंजन अनुनासिक के वर्ग का ही होना चाहिए यह आवश्यक नहीं है।

(ग) **र** तथा एक व्यंजन :

बुर्का, मिर्चैं, अर्सी (अलसी)

(घ) *ल्* तथा एक व्यंजन :

कल्सा, कल्गी, बिल्टी ।

(ङ) स् तथा एक व्यंजन :

अस्तर्, कस्कुट्, विस्राम् ।

(च) कभी कभी दो स्पर्शों का युग्म किन्तु दोनों स्पर्शों को अनिवार्य रूप से या तो घोष अथवा अघोष होना चाहिए : *उक्तात्, वद्जात्* ।

१२०. अतएव विदेशी शब्दों में प्रयुक्त अन्य व्यंजनों के युग्मों को किसी स्वर को बीच में डाल कर तोड़ दिया जाता है :

कदर (क़द्र), *हुकुम्* (हुक्म), *टिरेन्* (ट्रेन)

दो से अधिक व्यंजनों की समष्टि एक साथ नहीं आ सकती, अतएव सदा स्वर का समावेश कर के ऐसी समष्टियों से बचा जाता है :

समझ्नो समुझाउनो ।

१२१. आधुनिक व्रज में शब्द का अन्त या तो स्वर में अथवा व्यंजन में होता है (§ १०१)। व्यंजनों के पश्चात् अन्त्य ह्रस्व स्वरों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे अन्त में फुसफुसाहट वाले स्वरों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं (§ ९०)। अन्य स्थलों में उनके पहले कोई दीर्घ स्वर रहता है। शब्दान्त में केवल एक व्यंजन पाया जाता है। संयुक्त व्यंजन के बाद प्रायः स्वर रहता है (§ ८९)। प्राचीन व्रज में प्रत्येक शब्द के अन्त में कोई स्वर होता था (§ १०१)।

१२२. व्रज में एक शब्द एक से लेकर चार शब्दांशों के योग से बन सकता है, किन्तु दो शब्दांशों से बने शब्द प्रचुरता से पाये जाते हैं।

शब्दसंपर्क में अनुरूपता

१२३. बोलचाल की व्रज में शब्दसंपर्क में अनुरूपता की निम्नांकित स्थितियाँ देखी गई हैं :

किसी परवर्त्ती घोष स्पर्श के रहने पर शब्दान्त में प्रयुक्त अघोष स्पर्श की अनुरूपता उसके वर्ग के घोष स्पर्श में होती है :

रुक् गई : रुग्गई (ए० व० पी०)

बाप् गओ : बाब् गओ (बाप गया)

किसी परवर्त्ती अघोष स्पर्श के रहने पर शब्दान्त में प्रयुक्त घोष स्पर्श की अनुरूपता उसके वर्ग के अघोष स्पर्श में होती है :

साग् करौ : साक् करौ

कब् खाओ : कप् खाओ

१२४. शब्दांत में प्रयुक्त स्पर्श की अनुरूपता उसके वर्ग के अनुनासिक में होती है, यदि वह अनुनासिक परवर्त्ती शब्द के आदि में आता है :

सब् मत् लेओ : सम् मत् लेओ

बात् नाएँ करौ : बान् नाएँ करौ

१२५. अन्त्य त् या थ् की अनुरूपता च्, ज्, ल् अथवा स् में होती है:

काँपत् चलो : काँपच् चलो
कण्डा पथ् जाएँ : कण्डा पज् जाएँ
काँपत् जाए : काँपज् जाए
मत् लेश्रो : मल् लेश्रो
मौत् साथी : मौस् साथी
हाथ से : हास् से

अन्त्य च्, छ्, ज् की अनुरूपता द् अथवा ड् में होती है:

सच् डर् लागत् है : सड् डर् लागत् है
कुछ् डारौ : कुड् डारौ
कुछ देश्रो : कुद् देश्रो
नाज् डारौ : नाड् डारौ
आज दर् वज्जे पै : आद् दर् वज्जे पै

अन्त्य ठ् की अनुरूपता ज् में होती है:

वैठ् जाङ्गे : वैज् जाङ्गे

१२६. शब्दान्त में आने पर र् की अनुरूपता बहुधा च्, ज्, ट्, ड्, न्, ल् या स् में होती है यदि ये परवर्त्ती शब्द के आदि में आते हैं (§ १०९):

मार् चलौ : माच् चलौ (ग्वा० प०)
मर् जाउङ्गी : मज् जाउङ्गी (म०)
निकर् ठारे : निकट् ठारे (ए०)
मार् डारी : माड् डारी (धौ० ग्वा० प० ए०)
जोर् ते : जोत् ते (अ०)
घर् दई : घद् दई (इ०)
ठाकुर् ने : ठाकुन्ने (आ०)
टेर् लेश्रो : टेल् लेश्रो (धौ०)
और सूज्जु : औस् सूज्जु (अ०)

विशेष—१. वदायूँ के एक उदाहरण में ज् के पूर्व प्रयुक्त र् न् में परिवर्त्तित होता है:

समुन्दर् जी : समुन्दन्जी

२. एटा के एक उदाहरण में र् ल् में परिवर्त्तित होता है यद्यपि उसके वाद ही यह ध्वनि नहीं है:

कराए लिङ्गे : कलाए लिङ्गे

३. बदायूँ के एक उदाहरण में न् के पूर्व प्रयुक्त र् ल् में बदल जाता है :

फिर् निकारे : फिल् निकारे

१२७. शब्दान्त के ड़् की अनुरूपता परवर्त्ती शब्द के आदि के र् अथवा द् में होती है :

पड़् रई : पर् रई (आ०)
छोड़् दे : छोद् दे (बदा०)

१२८. शब्दान्त के स् की निम्नांकित में अनुरूपता की प्रवृत्ति देखी जाती है च् ज् त् द् ट् ड् (§१११) :

साँस् चल्त है : साँच् चल्त है
पास् जाए कै : पाज् जाए कै
वाके पास् तर्बूज : वाके पात् तर्बूज्
कस् देओ : कद् देओ
दस् डङ्गर् : दड् डङ्गर्
रास् टूट् गई : राट् टूट् गई

फ़ारसी शब्द

१२९. प्राचीन व्रज के लेखक फ़ारसी शब्दों का प्रयोग स्वतंत्रता से करते थे। आधुनिक व्रज में भी फ़ारसी शब्द प्रचुर हैं। ऐसे उद्धृत शब्दों में प्राप्त ध्वनि-परिवर्त्तनों के सिद्धान्त में प्राचीन तथा आधुनिक व्रज में प्रयुक्त शब्दों के रूपों में कोई भेद नहीं है। आधुनिक व्रज में व्यवहृत होने पर फ़ारसी शब्दों में जो ध्वनि परिवर्तन कर लिए जाते हैं उनमें से कुछ विशेष परिवर्त्तनों का निर्देश नीचे किया जाता है।[1]

अरबी तथा तुर्की के भी कुछ शब्द व्रज में व्यवहृत होते हैं। ये शब्द फ़ारसी से हो कर आए हैं, इसी से इनमें प्राप्त परिवर्त्तन फ़ारसी से भिन्न नहीं हैं। साधारणतया फ़ारसी इ उ ई ए ऊ ओ अइ अउ में कोई परिवर्त्तन नहीं होता है और ये इ उ ई ए ऊ ओ ऐ औ के रूप में पाए जाते हैं : *किसमिस् (किशमिश्) जुलुम् (ज़ुल्म्) काजी (क़ाज़ी) सेर् (शेर्), खूब् (ख़ूब्) जोर (ज़ोर्) खैरात् (ख़इरात्) फौज (फ़उज्)।*

---

१. फ़ारसी अरबी लिपि के कुछ विशेष अक्षरों की भिन्नता सूचित करने के लिए निम्नलिखित विशेष चिह्नों का प्रयोग किया गया है :

१. ه = ह् , ح = ह़् ;
२. ت = त् , ط = त़् ;
३. س = स् , ش = श् , ص = स़् ;
४. ز = ज़् , ذ = ज़् , ض = ज़् ; ظ = ज़,

कुछ स्थलों पर शब्द के आदि के शब्दांशों में प्रयुक्त होने पर अ इ में तथा कभी कभी उ में परिवर्त्तित होता है : निमाज़् (नमाज़्), सिर्दार (सर्दार्), जिहाज़् (जहाज़्), बुलन्द् (बलन्द्)।

शब्द के आदि में अ आ अथवा ओ और मध्य में ऐ हो जाता है यदि परवर्त्ती ह् का लोप हो जाता है : सैनक् (सह्नक्) पैल्वान् (पह्लवान्) दमामो (दमामह्) रिसालो (रिसालह्), खलीफा (ख़लीफ़ह्), तकिया (तकियह्)।

१ के साथ होने पर अ साधारणतया व्रज में आ हो जाता है : आसा (अ१सा) आमाल् (अ१माल्) लाल् (ल१ल्), नफा (नफ़्१)।

कुछ स्थलों पर मध्य इ अ हो जाती है : इस्तमारी (इस्तिमारी)।

ह् के साथ होने पर शब्द के मध्य की इ प्रायः ए हो जाती है : मेतर् (मिह्तर्) चेरा (चिह्रह्)।

फ़ारसी ए ओ की इ उ में परिवर्त्तित होने की प्रवृत्ति फ़ारसी में ही पाई जाती है। व्रज में ये नियमित रूप से इ उ हो जाते हैं : जाहिर् (ज़ाहिर्), साहिब् (साहिब्), उस्ताद् (उस्ताद्)।

१३०. शब्द के आदि तथा मध्य का फ़ारसी ह (ह्, ह) व्रज में उसी रूप में रहता है : हवा (हवा), हामी (हामी), जाहिर् (ज़ाहिर्), रहिम् (रह्म्)। किन्तु अन्त्य ह् का लोप हो जाता है : सही (सहीह्)। अन्त्य ह् के पूर्व अ के परिवर्त्तन के लिए देखिए § १२९।

आधुनिक व्रज में ह्, के लोप कर देने की सामान्य प्रवृत्ति उद्धृत शब्दों में भी पाई जाती है (§ ११४)।

१३१. फ़ारसी क़् ख़् ग़् तथा फ़् प्रायः क्रमशः क् ख् ग् फ् में परिवर्त्तित होते हैं : कैद् (क़ैद्), खत् (ख़त्), गुस्सा (ग़ुस्सह्), अफ़सोस् (अफ़्सोस्)।

शब्द के मध्य का क़् कभी कभी ग् हो जाता है : तगादो (तक़ाज़ह्)।

शब्द के मध्य का ख़् कभी कभी क् में परिवर्त्तित होता है : बकसीस् (बख़्शीश्)।

ग़् के क् होने के कुछ उदाहरण मिलते हैं : सुराक् (सुराग़्)।

१३२. फ़ारसी श् ज़् (ज़् ज़् ज़् झ़्) तथा व् या व् क्रमशः स् ज् य् हैं : सेर् (शेर्), जिम्मा (ज़िम्मह्) जमीन्, (ज़मीन्), जमानत् (ज़मानत्), जाहिर् (ज़ाहिर्), मेवा (मीवह्)।

कुछ स्थलों पर ज् द् हो जाता है : कागद् (काग़ज़्)।

१३३. फ़ारसी क् ग् च् ज् त् (त् त्) द् प् ब् न् म् र् ल् स् (स् स् श्) प् में साधारणतया कोई परिवर्त्तन नहीं होता है :

किनारो	(किनारह्)
लगाम्	(लगाम्)
चर्बी	(चर्बी)
जान्	(जान्)
तीर्	(तीर्)
तूती	(तूती)
बन्दूक्	(बन्दूक्)
नास्पाती	(नाश्पाती)
बुल्बुल्	(बुल्बुल्)
दुनिया	(दुन्या)
कमान्	(कमान्)
अनार्	(अनार्)
लास्	(लाश्)
सजा	(सज़ा)
सवाब्	(सवाब्)
सबर्	(सब्र्)
याद्	(याद्)

अंग्रेज़ी शब्द

१३४. प्राचीन ब्रज में यूरोपीय भाषाओं के शब्द बहुत कम पाए जाते हैं। अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के समान ही आधुनिक ब्रज में अंग्रेज़ी के उद्धृत शब्दों का प्रयोग स्वतंत्रता से किया जाता है। पुर्तगाली, फ्रांसीसी तथा जर्मन आदि के शब्द बहुत कम मिलते हैं, अतः यहाँ उन पर विचार नहीं किया गया है।

अंग्रेज़ी से उद्धृत शब्दों में किए गए ध्वनिसंबंधी परिवर्तनों की सामान्य प्रवृत्ति को निम्नांकित रीति से सूत्रबद्ध किया जा सकता है: अंग्रेज़ी उच्चारण प्रणाली के स्थान पर ब्रज की उच्चारण प्रणाली का प्रयोग किया जाता है जिसका फल यह होता है कि अंग्रेज़ी की अपरिचित ध्वनियों के लिए उनकी निकटतम ब्रज की ध्वनियाँ व्यवहृत होती हैं किन्तु कुछ स्थलों पर असाधारण ध्वनियों अथवा ध्वनि समष्टियों को उच्चारण की सुविधा के लिए परिवर्तित कर लिया जाता है।

१३५. अंग्रेज़ी मूलस्वर ई, इ, उ, ऊ तथा अ ब्रज के स्वरों से बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं और उद्धृत शब्दों में इन्हें प्रायः यथावत् रहने दिया जाता है: टीम् (team), इँगलिस् (English), पास् (pass), फुटबाल् (football), बूट् (boot), गन् (gun)।

अवशिष्ट अंग्रेज़ी मूलस्वर ए, ऐं, ऑ, ओ, ए, अं साधारणतया आधुनिक ब्रज में नहीं व्यवहृत होते हैं। फलतः ये ब्रज के निकटतम स्वर में परिवर्तित कर लिए जाते हैं।

ए इ में परिवर्तित होता है : इन्‌जन् (engine), चिक् (cheque), बिञ्च (bench)।

ऍ साधारणतया ऐ हो जाता है : ऐक्ठर् (actor), गैस् (gas),

किंतु कुछ उदाहरणों में ऍ के स्थान पर अ होता है : कम्पू (camp.)

कमुरा (camera), लम्प् (lamp)।

ऑ तथा ऑ के स्थान पर प्रायः आ होता है : आफिस् (office), कापी (copy), ला (law), लान् (lawn)।

कुछ स्थलों पर ये अ या ओ के रूप में भी मिलते हैं : बम् (bomb), अगस्त (August), बोर्ड (Board)।

ऍ तथा अ॑ साधारणतया अ में परिवर्त्तित किए जाते हैं : नर्स् (nurse), कर्नल् (colonel), बटर् (butter), फिलास्फर् (philosopher)।

अ॑ कभी कभी ओ अथवा आ भी होता है : फोटोग्राफ् (photograph), डिरामा (drama)।

१३६. अँग्रेजी संयुक्त स्वरों में निम्नांकित परिवर्त्तन होते हैं :

एइ : ए , जेल् (jail), लेट् (late), रेल् (railway);

ओउ : ओ , कोट् (coat), पोस्‌काट् (post card), वोट् (vote);

ओउ अ तथा उ में बहुत कम परिवर्त्तित होते हैं :

रपट् (report), पुल्‌टिस् (poultice).

अ॑इ : ऐ, कभी कभी ए, टैम् या टेम् (time), हाप् सैड् (half side), रैट् (right);

अउ : औ, कभी कभी आउ, टौन् हाल् या टाउन् हाल् (town hall), कान्जी हौज (-house), औट् (out);

ऑइ : आइ, कभी कभी ऐ, लाइल् (loyal), राइल् (royal) पैट्‌मैन् (pointman);

इअ॑ : इअ, कभी कभी ए, डिअर् (dear), बिअर् (bear);

कुछ शब्दों में इअ॑ ए में परिवर्त्तित होता है, एरन् (ear-ring), थेटर् (theatre);

ऍअ॑ : ए, कभी कभी ऐ, डेरी (dairy), चेर्‌मैन् (chairman), बैरा (bearer)

ऑअ॑ तथा उअ॑ का अंग्रेजी से उद्धृत शब्दों में प्रायः अभाव देखा जाता है। व्यवहृत होने पर ये संयुक्त स्वर क्रमशः ओ तथा उअ हो जायँगे : फोर् (four), पुअर् (poor), म्योर् (Muir)।

आदि स्वरागम तथा मध्यस्वरागम के उदाहरण प्रचुरता से पाए जाते हैं : इस्कूल् (school), बिराँडी (brandy)। स्वरलोप बहुत कम होता है।

१३७. ब्रज में अप्रयुक्त निम्नलिखित अँग्रेजी व्यंजन परिवर्त्तित कर लिए जाते हैं।

अँग्रेज़ी वर्त्स्य ट् ड् मूर्द्धन्य ट् ड् अथवा दन्त्य त् द् में परिवर्तित होते हैं : रपट् (report), बोतल् (bottle), डिकस् (desk), दिसम्बर् (December)।

विशेष—वर्त्स्य ट् ड् का त् द् में परिवर्तन प्रायः उन्हीं शब्दों में होता है जो उर्दू के माध्यम से ब्रज में आए हैं।

अँग्रेज़ी स्पर्श-संघर्षी च् ज्, च् ज् हो जाते हैं : चेन् (chain), चर्च (church), जून (June), जज् (judge)।

अँग्रेज़ी अस्पष्ट ल् साधारण स्पष्ट ल् के समान प्रयुक्त होता है : बोतल् (bottle), टेबिल् (table)।

अँग्रेज़ी संघर्षी फ़्, व्, ज़्, श् नियमित रूप से क्रमशः फ्, ब्, ज्, स् में परिवर्तित होते हैं : फुटबाल् (football), फ़ेल् (fail), बोट् (vote), बार्निस् (varnish), जब्रा (zebra), रिजर्व (reserve), सिसन् (session), इसपेसल् (special)।

ष़् उद्धृत शब्दों में नहीं मिलता है। व्यवहृत होने पर ज़् के समान यह भी ज् में परिवर्तित कर लिया जायगा।

अँग्रेज़ी संघर्षी थ् दन्त्य-स्पर्श थ् हो जाता है : थर्मामेटर् (thermometre) थर्ड् (third); किंतु कुछ शब्दों में थ् ट् या ठ् में परिवर्तित होता है : ठेठर् (theatre), लङ्कलाट् (long-cloth)।

द़् उद्धृत शब्दों में नहीं मिलता है। प्रयुक्त होने पर वह द् हो जायगा।

अंग्रेज़ी अर्द्धस्वर व् व् में परिवर्तित होता है : वास्कट् (waistcoat), रेलवे (railway)।

१३८. अवशिष्ट अँग्रेज़ी व्यंजन प्, ब्, क्, ग्, म्, न्, ङ्, ल्, र्, स्, ह् तथा ज् ब्रज के व्यंजनों के समान ही हैं, अतएव इनमें साधारणतया कोई परिवर्तन नहीं होता है : पोस्काट् (postcard), बङ्क् (bank), कम्पू (camp), गारड् (guard), मनीजर् (manager), नकटाई (neck-tie), बेरङ् (bearing), लम्प् (lamp), रपट् (report), मास्टर् (master), हैट् (hat), यार्ड (yard)।

१३९ अनुरूपता के उदाहरण कलट्टर् (collector), विपर्यय के डिकस् (desk), व्यंजनलोप के वास्कट् (waist-coat) तथा व्यंजनागम के उदाहरण मोटर् (motor) आदि प्रचुरता से मिलते हैं।

कुछ शब्दों पर स्ववर्गीय ध्वनियों में घोष तथा अघोष ध्वनियों का पारस्परिक परिवर्तन देखा जाता है : डिगरी (decree), लाट् (lord)।

न् के ल् में परिवर्तित होने के उदाहरण भी मिलते हैं : लम्बर (number), लमूलेट् (lemonade)।

अँग्रेज़ी में जहाँ र् का लोप भी हो जाता है, उद्धृत शब्दों में उसका उच्चारण साधारणतया किया जाता है : कालर् (collar), पार्टी (party)।

संज्ञा

लिंग

१४०. प्राचीन तथा आधुनिक व्रज में प्रत्यक संज्ञा या तो पुल्लिग होती है अथवा स्त्रीलिंग। प्राणहीन वस्तुओं की द्योतक संज्ञाएँ भी या तो पुल्लिग अथवा स्त्रीलिंग होती हैं : **माट** पु० (सूर० म० ५), **चोटी** स्त्री० (लल्लू० २-१७)।

१४१. विदेशी शब्दों की लिंगहीन संज्ञाएँ अनिवार्य रूप से इन्हीं दो लिंगों में से किसी एक के अन्तर्गत रख ली जाती हैं। **जिहाज** पु० (गोकुल० १५-७), **फते** स्त्री० (भूषण० २०२)। विदेशी शब्दों के लिंग निर्धारण में कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं होता है। साधारणतया विदेशी शब्द से निकटतम अर्थ देने वाले घरेलू शब्द का लिंग नवागत शब्द के लिंग-निर्धारण में अपना प्रभाव डालता है : **रेल्** (अँग्रे० railway) स्त्रीलिंग है क्योंकि **गाड़ी** स्त्रीलिंग है। कुछ स्थलों पर किसी लिंग विशेष में किन्हीं परिचित रूपों में अन्त होने वाले शब्दों से विदेशी शब्दों के अन्त के रूपों का आकस्मिक ध्वन्यात्मक साम्य होने के कारण उद्धृत शब्द को भी उसी लिंग में रख लिया जाता है : कदाचित् इ-अन्त होने के कारण ही **काफी** (अँग्रे० coffee) स्त्रीलिंग है, अन्यथा अनेक पेय पदार्थों के द्योतक शब्द पुल्लिग हैं। तथापि ऐसे विदेशी शब्द बड़ी संख्या में हैं जिनके लिंग-निर्धारण का कोई तर्कपूर्ण कारण बता सकना कठिन है। इसके अतिरिक्त किसी एक प्रादेशिक बोली के विभिन्न भागों में ही कभी कभी किसी शब्द विशेष के लिंग के संबंध में किंचित् विरोध देखा जाता है। **टेसन्** (station) प्राय: पुल्लिग माना जाता है, किन्तु धुर पूर्व में यह कभी कभी स्त्रीलिंग की भाँति भी व्यवहृत होता है।

१४२. छोटे जानवरों, पक्षियों अथवा पतिंगों के नाम या तो पुल्लिग अथवा केवल स्त्रीलिंग होते हैं। इनके संबंध में लिंग-भावना कभी भी स्पष्टता से नहीं प्रतीत होती है : **कछुआ, मूसो** पुल्लिग हैं, **मछरी** स्त्रीलिंग है।

प्राणियों की द्योतक पुल्लिग संज्ञाओं में प्रत्यय लगा कर सहगामी स्त्रीलिंग रूप बनाए जाते हैं :

(क) प्राचीन व्रज में अकारान्त संज्ञाओं में **–अ** के स्थान पर **–इनि** अथवा **–इनी** लगाया जाता था : **ग्वाल, ग्वालिनि** अथवा **ग्वालिनी** (सूर० म० ३, १३ तथा पृष्ठ ३३७-१)।

(ख) आधुनिक व्रज में सहगामी व्यंजनान्त संज्ञाओं में **–इन्** अथवा **–इनी** लगता है : **गरीव् : गरीबिन्** अथवा **गरीबिनी**।

(ग) आकारान्त संज्ञाओं में **–आ** के स्थान पर **–ई** मिलती है : **सखा : सखी** (सूर० म० १-२), **लरिका : लरिकी** (सूर० म० १५)।

(घ) ईकारान्त संज्ञाओं में **–ई** के स्थान पर **–इनि** (आधुनिक व्रज में **–इन्** या **–इनी**) पाई जाती है : **माली: मालिन्, हाथी : हथिनी**।

(ङ) ओकारान्त अथवा औकारान्त संज्ञाओं में **–ओ** अथवा **–औ** के स्थान पर

–ई लगती है। विशेषणों में इस प्रकार के रूप बहुत अधिक देखे जाते हैं (§ १५५)। अन्य स्वरों और व्यंजनों में अन्त होने वाले विशेषणों के रूपों में लिंग संबंधी विकार नहीं होता है : ***भारी, पालतू, गोल्***।

(च) उकारान्त अथवा ऊकारान्त संज्ञाओं में अन्त्य स्वर यदि दीर्घ हो तो उसे ह्रस्व कर के ***–नि*** जोड़ देते हैं : ***साधू : साधुनी***

विशेष—कुछ प्राणहीन वस्तुओं की द्योतक पुल्लिग संज्ञाओं में प्रत्यय लगा कर स्त्रीलिंग रूप बनाए जाते हैं। ऐसे स्थलों पर स्त्रीलिंग रूप अनिवार्य रूप से किसी छोटी वस्तु का भाव प्रकट करता है।

१४३. संज्ञा के लिंग का बोध निम्नांकित रीति से होता है :

(क) विशेषण के रूप से : ***बड़ो माट*** (सूर० म० ५), ***साँकरी खोरि*** (सूर० म० १४)।

(ख) क्रियाओं के कुछ कृदन्ती रूपों में पुल्लिग अथवा स्त्रीलिंग रूप से, जिसे भी वह ग्रहण करता है : ***पाक् सिद्ध भयो*** पु० (गोकुल० २-१२), ***नवधा भक्ति सिद्ध भई*** स्त्री० (गोकुल० ४-१२)।

(ग) प्राणियों की द्योतक संज्ञाओं के संबंध में, प्राणियों के लिंग के अनुरूप ही संज्ञाओं का लिंग निर्धारित होता है : ***राजा*** पु०, ***गाय*** स्त्री०।

वचन

१४४. प्राचीन तथा आधुनिक व्रज में दो वचन होते हैं—एकवचन और बहुवचन। बहुवचन के चिह्न कारक-चिह्नों से पृथक् नहीं किए जा सकते अतएव इनका विवेचन उन्हीं के साथ किया गया है (§ १४८, १५०)।

१४५. प्राचीन तथा आधुनिक व्रज में भी आदरार्थ में विशेषण या क्रिया के बहुवचन के रूप एकवचन की संज्ञा के साथ तथा सर्वनाम के एकवचन के रूपों के स्थान पर बहुवचन के रूप स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहृत होते हैं। आधुनिक व्रज में, विशेष रूप से पूर्वी प्रदेश में, यह प्रवृत्ति बल पा रही है और एकवचन के रूपों का प्रयोग बच्चों अथवा समाज के निम्न स्तर के लोगों तक ही सीमित रहता है : ***तू कहाँ जात् है*** या ***परसादी कहाँ जात् है*** का प्रयोग किसी बड़ी अवस्था वाले पुरुष अथवा समाज के किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के संबंध में नहीं किया जा सकता है। इनके लिए ***तुम् कहाँ जात् हौ*** या ***परसादी कहाँ जात् हैं*** साधारण प्रयोग हो गए हैं। तथापि पश्चिम और दक्षिण में एकवचन के रूपों का प्रचार अधिक होता है। पंजाबी की भांति खड़ीबोली में बड़ी अवस्था के व्यक्तियों अथवा प्रतिष्ठित पुरुषों के लिए भी एकवचन के रूपों का प्रयोग पूर्णतया व्याकरण के अनुशासन के अनुसार किया जाता है।

रूपरचना

१४६. प्राचीन तथा आधुनिक व्रज में संज्ञा के दो रूप होते हैं—मूलरूप तथा विकृतरूप। कुछ संज्ञाओं में मूलरूप के बहुवचन का रूप एकवचन के रूप से भिन्न होता है। साथ ही कुछ अन्य संज्ञाओं में विकृतरूप एकवचन में भिन्न रूप होता है। तथापि

अधिकांश स्थलों पर मूलरूप तथा विकृत रूप बहुवचन, केवल ये ही दो रूप होते हैं।

१४७. मूलरूप एकवचन : आधुनिक व्रज में संज्ञा का यह रूप स्वरान्त अथवा व्यंजनान्त होता है : *चेला, साँप्*। शब्द के अन्त में प्रयुक्त हो सकने वाले कोई भी स्वर तथा व्यंजन (§ १०१) संज्ञाओं के अन्त्य स्वर तथा व्यंजन हो सकते हैं। कभी कभी व्यंजनान्त शब्दों का उच्चारण इस प्रकार किया जाता है कि स्त्रीलिंग संज्ञाओं के अन्त में *–अ* या*–इ* और पुल्लिग में *–उ* जोड़ दिया जाता है : *छप्पर, घरु, आगि*। अवधी में इस प्रकार का अन्त्य–*अ* उदासीनस्वर तथा–*इ –उ–* फुसफुसाहट वाले स्वर(§८९, ९१) सिद्ध कर दिए गए हैं। व्रज क्षेत्र में इन स्वरों का उच्चारण उसके पूर्वी पड़ोसी बोली के उच्चारण से भिन्न नहीं प्रतीत होता है। आधुनिक व्रज के व्यंजनान्त मूलशब्द अधिकांश में प्राचीन अकारान्त संज्ञाओं से विकसित हुए हैं। आधुनिक प्रवृत्ति यह है कि यदि अन्त्य *–अ* के पहले कोई संयुक्त व्यंजन (§ ८९) नहीं है तो उसका लोप कर दिया जाता है। इस प्रवृत्ति के कारण ही आधुनिक बोली में बहुत से व्यंजनान्त मूलशब्द पाए जाते हैं।

प्राचीन व्रज में संज्ञाएँ केवल स्वरों में अन्त होती हैं और वे निम्नांकित हैं—

–अ *भीर* (नन्द० १-११४),
–आ *बगुला* (लल्लू० ६-७),
–इ *सौति* (मति० १२),
–ई *झोपरी* (नरो० ८८),
–उ *बेनु* (हित० १५),
–ऊ *बीछ्रू* (भूषण० ९९),
–ओ *तिनको* (सूर० म० ७),
–औ *माथौ* (गोकुल० २१-१७)।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है रत्नाकर द्वारा संपादित विहारी के संस्करण में अकारान्त संज्ञाओं को उकारान्त कर दिया गया है : *पापु* (विहारी० २६६)। यह प्रवृत्ति कभी कभी अन्य लेखकों में भी देखी जाती है।

खड़ीबोली हिन्दी की आकारान्त संज्ञाओं के स्थान पर (विशेषणों, संबंधवाचक सर्वनामों और परसर्गो, क्रियार्थक संज्ञाओं और भूतकालिक कृदन्तों की भाँति ही) ओकारान्त संज्ञाएँ व्रज की एक प्रमुख विशेषता हैं। आधुनिक भाषाओं में हिन्दी की बुँदेली बोली तथा राजस्थानी, गुजराती और पहाड़ी भाषाओं तक इस प्रवृत्ति का प्रसार पाया जाता है। आधुनिक व्रज में *ऍ* और *ऑ* अन्त्य वाले मूलशब्द उन्हीं प्रदेशों तक सीमित हैं जहाँ पर *ए ऐ* अथवा *ओ औ* के स्थान पर इस उच्चारण का चलन है (§ ९३)। प्राचीन व्रज में *–औ* अन्त्य वाला रूप बहुत कर के साधारणतया प्रयुक्त *–ओ* अन्त्य वाले रूप के स्थान पर मिलता है। थोड़े से शुद्ध*–ओ* अन्त्य वाले रूप भी हैं : *जो* (पद्मा० १२)।

१४८. मूलरूप बहुवचन : *ओ*, या *-औ* अंत्य वाली संज्ञाओं को छोड़ कर संज्ञा के शुद्ध तथा अविकारी मूलशब्द का प्रयोग इस कारक के लिए भी होता है। *-ओ* या *-औ* अंत्य

की संज्ञाओं में इन ध्वनियों के स्थान पर –ए हो जाता है : **जनो : ज़ने, काँटे** (गोकुल० ७२-१८)।

आधुनिक ब्रज में विकृत रूप बहुवचन में संज्ञाओं के अन्त्य **-आ** तथा **-ई** कभी कभी अनुनासिक हो जाते हैं : ***पिढ़िया : पिढ़ियाँ, रोटी : रोटीं, अँखियाँ*** (रस० १३)।

ऊ अन्त्य वाली स्त्रीलिंग संज्ञाओं में अन्त्य स्वर को ह्रस्व करने के पश्चात् **-एँ** जोड़ा जाता है। इस रूप का प्रयोग भी यदा कदा होता है : **बहू : बहुएँ।**

पूर्वी प्रदेश में व्यंजनान्त स्त्रीलिंग संज्ञाओं में -एँ जोड़ा जाता है : **ईंट् ईंटैं।** इसी प्रकार प्राचीन ब्रज में **–अ** अन्त्य वाली स्त्रीलिंग संज्ञाओं में **–ऐं** अन्त्य वाले रूपों का प्रयोग अधिकता से होता है : **लटैं** (तुलसी० क० १-५)।

१४९. विकृत रूप एकवचन : **–ओ** या **–औ** अंत्य वाली पुल्लिग संज्ञाओं (तथा विशेषणों, संबंधवाचक सर्वनामों और परसर्गों, क्रियार्थक संज्ञाओं और भूतकालिक कृदन्तों) को छोड़ कर विकृत रूप एकवचन बनाने में संज्ञा के मूलशब्द में कोई प्रत्यय नहीं लगाया जाता है। **–ओ** या **–औ** अन्त्यवाली संज्ञाओं में इनके स्थान पर –ए कर दिया जाता है जैसा कि मूलरूप बहुवचन में होता है : **जनो : जने, वारे ते** (सूर० म० १५)।

१५०. विकृत रूप बहुवचन : आधुनिक ब्रज के संपूर्ण क्षेत्र में व्यंजनान्त संज्ञाओं में **–अन्** जोड़ कर विकृत रूप बहुवचन बनाया जाता है : **आम् : आमन्, ईंट् : ईंटन्;** केवल अलीगढ़, एटा, तथा बदायूं में **–अनु** जोड़ा जाता है (§ ९१)। **–आ-, –ई, –ऊ** अंत्य वाली संज्ञाओं में पूर्वी प्रदेश में अंत्य स्वर को ह्रस्व कर के तथा पश्चिमी और दक्षिणी प्रदेश में बिना ह्रस्व किए ही **–न्** जोड़ा जाता है :

घोड़ा : घोड़न् (ब०), *घोड़ान्* (ज० पू०)
रोटी : रोटिन् (ब०) *रोटीन्* (बु०)
बहू : बहुन् (ब०), *बहून्* (क०)

पूर्वी प्रदेश में **–ऊ** अंत्य वाली संज्ञाओं में अंत्य स्वर ह्रस्व करने के बाद कभी कभी **-अन्** जोड़ा जाता है : ***बहू : बहुअन्***। एकारान्त तथा ओकारान्त संज्ञाओं में **–ए** तथा **–ओ** के स्थान पर पूर्व में **–इन्** और पश्चिम तथा दक्षिण में **–एन्** लगाया जाता है। ***जनो : जनिन्*** (ब०), ***जनेन्*** (क०)।

प्राचीन ब्रज में **न** जोड़ कर विकृत रूप बहुवचन बनाया जाता है और साधारणतया पहले का स्वर दीर्घ होने पर ह्रस्व तथा कभी कभी ह्रस्व होने पर दीर्घ हो जाता है : ***छबिलिन*** (नन्द० ८-१८), ***तुरकान*** (भूषण० २४)। **–इ** या **–ई** अंत्य वाले मूलशब्दों में प्रत्यय लगाने के पूर्व प्रायः **-य-** जोड़ा जाता है : ***सखियान्*** (नगो० १००)। कभी कभी **–न** के स्थान पर **–नि** या **–नु** प्रत्यय भी देखे जाते हैं : ***कटाछनि*** (मैना० १)। ***आँखिनु*** ([illegible] ४१)। पूर्वी रूपों में कभी कभी अवधी का **–न्ह** प्रत्यय मिलता है : ***बीथिन्ह*** (तुलसी० गी० १-१)।

१५१. ओकारान्त संज्ञाओं (खड़ीबोली आकारान्त) के मूलरूप एकवचन के

विशेष रूप और विकृत रूप एकवचन के *-ए* अन्त्य वाले रूप का व्यवहार हिंदी की अन्य वोलियों के अतिरिक्त लहन्दा, पंजावी, मराठी तथा जौनसारी में होता है। राजस्थानी तथा गुजराती में ऐसी संज्ञाओं के करण कारक के रूप *-ए* अथवा *-ऐ* लगा कर वनाए जाते हैं।

विकृतरूप वहुवचन के *-अन्* रूप का प्रचार हिन्दी की वोलियों तक सीमित हैं, केवल खड़ी वोली में *-ओं* अन्त वाले रूप मिलते हैं। हिन्दी क्षेत्र के वाहर यह प्रवृत्ति कुमाउँनी में मिलती है : सिन्धी *अने* से, जिसका प्रयोग करण कारक में भी होता है, इसका मिलान किया जा सकता है।

रूपों का प्रयोग

१५२. परसर्ग के विना मूलरूप का प्रयोग निम्नांकित में होता है :

(क) कर्त्ता की भाँति : *विंव है अधर* (सेना० २५), *ईटैं हुआँ हैं* (व०)।

(ख) कर्म की भाँति : *फोरे सव वासन घर के* (सूर० म० ५), *तुम् ईटैं लावौ* (व०)।

(ग) संवोधन एकवचन की भाँति : *राजकुमार हमैं नृप दीजै* (केशव० २-१५)। यह द्रष्टव्य है कि संवोधन वहुवचन का रूप इससे भिन्न होता है और कुछ संज्ञाओं के मूलरूप वहुवचन के विशेष रूपों का प्रयोग संवोधन की भाँति नहीं होता है।

१५३. विकृतरूप का प्रयोग परसर्ग के साथ अथवा विना परसर्ग के होता है :

(क) परसर्ग सहित : एकवचन : *देखौ महरि आपने सुत को* (सूर० म० २), *जगत में* (लल्लू० ३-५)।

वहुवचन : *जोगिन को जो दुर्लभ* (नन्द० १-७९), *अपने सेवकन सों कह्यौ* (गोकुल० १५-६)।

(ख) परसर्ग रहित :

एकवचन : *मृतक गऊ (को) जीवाय* (नाभा० ४३), *जाति अवलाई* (सेना० ९), *कुछ भाभी हम कौं दियो* (नरो० ५०), *अपने मुख चाँदने चलत* (नंद० २-२३), *पढ़े एक चटसार* (नरो० २२)।

वहुवचन : *सव सखियन लै सङ्ग* (नरो० १००), *साँटिन मारि* (सूर० म० १७), *विप्रन काढ़ि दियो तुम को* (नरो० ६१), *परे आँगुरीन जप छाला* (सेना० २७), *भूखन मर् गओ* (व०)।

विशेष संयोगात्मक रूप तथा उनका प्रयोग

१५४. निम्नांकित विशेष संयोगात्मक रूप व्रज में पाए जाते हैं :

संवोधन वहुवचन : प्राचीन तथा आधुनिक व्रज में व्यंजनान्त संज्ञाओं में *-औ* जोड़ कर संवोधन वहुवचन का रूप वनाया जाता है : *वाम्हनौं*। स्वरों में अन्त होने वाली संज्ञाओं में *-औ* जोड़ने के पूर्व *–ई, –ऊ* को ह्रस्व कर दिया जाता है : *वेटौ, वहुऔ*।

–आ, –ए या –ओ में अंत होने वाली संज्ञाओं में अंत्य स्वर के स्थान पर –औ जोड़ दिया जाता है : *भइऔ, बेटी*।

'को' 'के लिए' अर्थ का द्योतक एक संयोगात्मक रूप कभी कभी समस्त ब्रज प्रदेश में मिलता है। वह मूलशब्द में –ऐ प्रत्यय लगा कर बनाया जाता है और ऐसा करने के पूर्व अन्त्य स्वर यदि दीर्घ हो तो ह्रस्व कर लिया जाता है : *घासिऐ दै देओ* (व०), *व्यारिऐ मान्नो पर्‌यो* (म०)।

प्राचीन ब्रज में भी 'को' या 'में' अर्थ देने वाले इसी प्रकार के संयोगात्मक रूप मिलते हैं, किन्तु उनमें निम्नलिखित कई प्रकार के प्रत्यय लगाए जाते हैं :

–हिं	*पूतहिं* (सूर० म० ८)
–हि	*मनहि* (हित० ८)
	जियहि जिवाय (घना० ५)
–एँ	*सपनैं* (स्वप्न में) (बिहारी० ११६)
–ऐ	*घरै* (रस० ४१)
–ए	*हिये* (नरो० ४)
	द्वारे (नरो० २४)
–इ	*जगति* (नाभा० ३३)।

आधुनिक ब्रज में अन्य संयोगात्मक रूपों के उदाहरण मिलते हैं, किंतु बहुत कम *हाती बँदो तौ द्वारे* (फ०), *सोने के थारन भुजूना परोसे* (मैं०), *अन्दर् कोठरी हम् कहा जानें का बात कर् रहे हो* (बदा०) , *लगी अँगुरिया फाँस* (मैं०), *नजीके कोई तलाव् बताइ दे*।

कुछ उदाहरणों में 'में' का भाव प्रकट करने के लिए कोई परसर्ग नहीं लगाया जाता है : *जे तौ पूँछे मालूम् होए* (बदा०)। बदायूं के एक उदाहरण में संयुक्त परसर्ग *के ताँईं* (के लिए) का प्रयोग 'में' के अर्थ में हुआ है : *गद्‌लेड़ा कैसे बचैं खानू के ताँईं* (मैं गर्मी का मज़ा खाने से कैसे बचाया जा सकता हूँ)।

विशेषणमूलक रूप

[illegible]. ओकारान्त विशेषणों का –ए प्रत्ययान्त परिवर्तित रूप गुण-विस्तार के रूप में संज्ञा के साथ मूलरूप बहुवचन, विकृतरूप एकवचन तथा विकृतरूप बहुवचन में प्रयुक्त होता है : *कारो आद्‌मी जात् है, कारे आद्‌मी जात हैं, कारे आद्‌मिन् से कैह् देओ*।

संज्ञा के बाद [illegible] आने वाले विशेषणों में उपर्युक्त परिवर्तित रूप का व्यवहार केवल मूलरूप बहुवचन में ही प्राप्त होता है : *वो आद्‌मी कारो है, वे आद्‌मी कारे हैं*, किंतु *या आद्‌मी को कारो बताउत् हैं, उन् आद्‌मिन् कों कारो बताउत् हैं*।

व्यंजनों अथवा अन्य स्वरों में अंत होने वाले विशेषणों के कोई परिवर्तित रूप नहीं होते हैं, [illegible] रूप ही सर्वत्र व्यवहृत होते हैं : *जा लाल् ईंट् है, जे लाल् ईंटें हैं, लाल् ईंट् को टुकड़ा, लाल् ईंटन् के टुकड़ा*।

विशेषणों का संज्ञा के सदृश प्रयोग अधिकता से होता है। ऐसे स्थलों पर पहले आई हुई संज्ञा अन्तर्हित मानी जाती है : *कौन् लरकिनी ससुरार् गई, का छोटी हुआँ गई हैं ?*

ऐसे स्थलों पर विशेषण संज्ञा के सदृश माना जाता है और संज्ञाओं के समान ही उसके कारक-भेद होते हैं : *वड़े वच्चा हिआँ वैठें, छोटिनू सै कैह्. देओ कि खेलैं।*

परिमाणसूचक विशेषणों के कोई परिवर्तित रूप नहीं होते हैं।

७. सर्वनाम

उत्तमपुरुष सर्वनाम

१५६. व्रज में उत्तमपुरुष सर्वनाम के लिए निम्नलिखित मुख्य रूप होते हैं :

		आधुनिक व्रज	प्राचीन व्रज
मूलरूप	एक०	मैं, में ;	मैं, में ;
		हौं, हों, हूँ	हौं, हों, हूँ
	वहु०	हम्	हम
विकृतरूप	एक०	मो, मोहि	मो
	वहु०	हम्	हम

१५७. व्रज में मूलरूप एकवचन के रूपों का प्रयोग एकवचन की क्रिया के कर्त्ता की भाँति होता है। पूर्व में तथा पश्चिम और दक्षिण के कुछ जिलों में (व० वदा० इ० फ० पी०; म० वु०; भ० कभी कभी आ० अ० क० मै०) *मैं* साधारण रूप है : *मैं जात् हौं।* पूर्वी सीमान्त भाग के जिलों में (शा० ह० क०), इसका उच्चारण *मइं* (§ ९७) होता है और दक्षिण के कुछ प्रदेशों में (ज० पू० ग्वा० प० और ए० में भी) वुंदेली की भाँति *में* (§ ९३) होता है। पश्चिम और दक्षिण के कुछ प्रदेशों में (अ० क० धौ०) *हूँ* या *हुँ* साधारण रूप है। आगरा में इसका उच्चारण *हौं* है : *हौं गयो।* दक्षिण में *हों* (क०), और *हउँ* रूप भी प्राप्त हुए हैं (इनके ध्वन्यात्मक रूपान्तर के लिए दे० § ९३)। संपूर्ण क्षेत्र में जहाँ *-ह* वाले रूप मिलते हैं वहाँ साथ-साथ *मैं* भी व्यवहृत होता है।

प्राचीन व्रज में भी *मैं* का प्रयोग वरावर पाया जाता है, जैसे *औरनि जानि जान मैं दीन्हे* (सू० म० २)।

सेनापति में कुछ स्थलों पर *मै* मिलता है (सेना० २-३२) जो कदाचित् लिपिकार अथवा प्रूफ़ पढ़ने वाले की असावधानी के कारण निरनुनासिक रह गया है। *में* केवल गोकुलनाथ में अन्य साधारण रूपों के साथ साथ प्रयुक्त हुआ है।

प्राचीन व्रज के सभी लेखकों में *हौं* लगभग समान रूप से प्रचलित मिलता है : *हौं रीझी* (विहारी० ८)। इसका अन्य रूप *हौं* साधारणतया निश्चय वोधक *हूँ* ('भी') के साथ प्रयुक्त मिलता है और वहुत संभव है कि अनुनासिकता की आवृत्ति से वचने के लिए इस सर्वनाम में परिवर्तन कर लिया गया हो: *हौ हूं...कन...तासु मद फेटिहौं*

(घना० १२)। सूरदास में **हौं** बहुत कम मिलता है, किंतु गोकुलनाथ में **हूँ** के साथ-साथ यह बराबर प्रयुक्त हुआ है।

प्राचीन लेखकों में प्राचीन मूलरूप एकवचन **हौं** का बहुत अधिकता से प्रयुक्त होना स्वाभाविक है। व्रज के राजनैतिक तथा धार्मिक केन्द्र मथुरा और आगरा की बोली के प्रभाव के कारण भी **हौं** अधिकता से प्रचलित हो सकता है। बाद में प्राचीन लेखकों की भाषा के आदर्श पर यह ठेठ व्रज का रूप माना गया। राजस्थान के दरबारों से संबद्ध कवियों की कृतियों में **हौं** को **मैं** से अधिक प्रश्रय देने का कारण यह हो सकता है कि राजस्थानी में इससे मिलते जुलते रूप विद्यमान थे और इसका अधिक प्रचार होना उनके प्रभाव से भी संभव है।

लगभग समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के समान व्रज में भी उत्तम पुरुषवाची सर्वनाम मूलरूप एकवचन में ***म***– वाला रूप पाया जाता है, किंतु पूर्वी भाषाओं में बहुवचन का रूप प्रायः एकवचन के रूप का स्थानापन्न हो गया है—केवल गुजराती, मारवाड़ी, मालवी, जौनसारी तथा गुर्जरी में ऐसा नहीं होता है। इनमें ***म***- रूप वाले सर्वनामों के साथ साथ ***ह***- रूप के सर्वनाम प्रयुक्त होते हैं, दे० सिंधी **आऊँ, आ** तथा जौनसारी वैकल्पिक रूप **अउँ**। ***ह***- रूप पंजाबी में लुप्त हो गया है और हाल ही में ***म***- रूप ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है (लि० स० इं० ९, भाग १)। ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे धीरे करणकारक का ***म***– रूप अधिक प्राचीन ***ह***– रूप का स्थानापन्न बन रहा है। कुछ भाषाओं में अभी भी दोनों साथ साथ व्यवहृत होते हैं। व्रजभाषा इस प्रकार की भाषाओं की एक उदाहरण है।

१५८. परसर्गों के साथ विकृत रूप एकवचन के रूप कर्त्ताकारक को छोड़ कर अन्य कारकों को व्यक्त करते हैं। आधुनिक व्रज में **मो** संपूर्ण क्षेत्र में व्यवहृत होता है: ***मो को देखो***। केवल पूर्वी सीमान्त जिलों में (शा० ह० का० तथा फ० में भी) ***मोहि*** (सि० जय ***महि***) अधिक प्रचलित है। ***मोहि से चलो नाइँ जात*** (शा०)।

प्राचीन व्रज में भी सभी लेखकों में **मो** साधारणतया प्रयुक्त होता है: ***सुनि मइया याके गुन मो सौं*** (सूर० म० ८)। कभी कभी **मो** किसी परसर्ग के बिना कर्म की भाँति व्यवहृत होता है: ***मो देखत सब हँसत परस्पर*** (सूर० वि० २८ तथा नंद ४-२९, नरो० २३)। **मौ** केवल गोकुलनाथ में मिलता है (३२-१२)।

मो का प्रयोग परवर्ती संज्ञा के लिंग के विचार के विना ही संबंधवाचक सर्वनाम के समान भी होता है। इस प्रकार प्रयुक्त होने पर मूलरूप और विकृतरूप में उसके भिन्न रूप नहीं होते हैं। **मो** का इस प्रकार का प्रयोग अधिकता से होता है: ***मो माया सोहत है*** (नन्द ४-२९), ***मो मन हरत*** (सेना० ३४)। **मौं** रूप कतिपय स्थलों पर मिलता है (सूर० म० २५)। यह रूप संस्कृत **मम** के अधिक निकट है।

खड़ीबोली तथा बांगरू को छोड़ कर हिन्दी की अन्य सभी बोलियों में विकृतरूप एकवचन **मो** प्रयुक्त होता है। खड़ीबोली तथा बांगरू में ***मुज्***, ***मुझ्***, या ***मझ्*** तथा ***मझ्*** [illegible] जो इन्हीं बोलियों में मिलते हैं। भोजपुरी तथा उड़िया में **मो** केवल निम्न [illegible] व्यक्तियों के लिए व्यवहृत होता है, दे० मैथिली अनादर सूचक रूप, **मोहि**, सिंधी,

मेवाती, पश्चिमी पहाड़ी *मूँ* तथा लहन्दा, गुजराती, राजस्थानी और नेपाली *म* या *म्ह*। अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में या तो मूलरूप एकवचन अथवा वहुवचन का रूप किंचित् परिवर्त्तन के साथ अथवा उसी रूप में विकृत रूप एकवचन के समान प्रयुक्त होता है।

१५९. मूलरूप वहुवचन के रूप का प्रयोग वहुवचन में प्रयुक्त क्रिया के कर्त्ता के सदृश होता है। आधुनिक व्रज में *हम्* संपूर्ण क्षेत्र में व्यवहृत होता है: *हम् जात् हैं*। अवधी के समीपस्थ कुछ पूर्वी जिलों में (ह० का०) इसका प्रचलित उच्चारण *हमु* (§९१) है। प्राचीन व्रज में भी *हम* के कोई रूपांतर नहीं होते हैं। एकवचन के स्थान पर इसका प्रयोग प्राचीन व्रज में आधुनिक वोली की भाँति उतनी अधिकता से नहीं होता है।

विकृत रूप वहुवचन का प्रयोग परसर्गों के साथ विभिन्न प्रकार के संवंधों को व्यवत करने के लिए होता है। आधुनिक व्रज में *हम्* के कोई रूपांतर नहीं होते हैं और वह मूल-रूप वहुवचन के समान ही रहता है: *हमको देखो*। कुछ प्रदेशों में (बु० क० ग्वा० प०) *नैं* परसर्ग के पहले *हम्* के *हमन्* होने के उदाहरण मिले हैं: *हमन् नैं देखी तेरी आरसी* (बु०), *हमन् नैं वचाए* (ग्वा० प०)।

प्राचीन व्रज में भी *हम्* विकृतरूप वहुवचन में प्रयुक्त होता है और उसके कोई रूपांतर नहीं होते हैं: *हम पै उमड़े हौ* (देव० ३-५८)। मूलरूप तथा विकृतरूप वहु-वचन के दोनों रूप प्राय: एकवचन के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं, किंतु आधुनिक व्रज में यह प्रवृत्ति विशेप वल पा गई है।

मूलरूप वहुवचन तथा विकृतरूप वहुवचन *हम्* का प्रयोग साधारण ध्वनि संवंधी रूपान्तरों के पश्चात् हिंदी की अन्य समस्त वोलियों तथा मेवाती, पहाड़ी और गुजराती में भी होता है। तीन उत्तर पश्चिमी भापाएँ *अस्-* रूप पर आधारित भिन्न रूप रखती हैं। अन्य समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में *हम्* रूप का किंचित् परिवर्त्तित रूप व्यवहृत होता है। उसका परिवर्त्तित होना या तो *ह्* और *म्* के स्थानान्तरित होने के कारण होता है, जैसा कि अधिकांश राजस्थानी वोलियों में देखा जाता है, अथवा शव्द के आदि के हकार के लोप हो जाने के कारण होता है।

१६०. 'मुझको' अथवा 'हमको' का अर्थ देने वाले कुछ संयोगात्मक रूप परसर्गों के विना अन्य रूपों के साथ साथ व्रज में अधिकता से व्यवहृत होते हैं। इनमें से वहुत अधि-कता से प्रयुक्त होने वाले रूप निम्नांकित हैं:

विकृत, वैकल्पिक	आधु० व्र०	प्रा० व्र०
'मेरे लिए'	*मोयॅ, मोएँ*	*मोहिं, मोहि*
'हमारे लिए'	*हमैं*	*हमैं हमहिं*

आधुनिक ब्रज में एकवचन का साधारण रूप **मोय्** है, **मोय् देखो** (आ०)। **मोएँ** रूप कुछ प्रदेशों में मिलता है (द० ददा०, कभी कभी म० में)।

प्राचीन ब्रज में एकवचन में बहुत अधिकता से प्रयुक्त होने वाला रूप **मोहि** है, यद्यपि **मोहिं** भी साथ साथ मिलता है, **मोहिं परतीति न तिहारी** (सेना० १९)। छंद की आवश्यकता के कारण अथवा यमक के लिए **मोहिं** के निम्नलिखित किंचित् परिवर्तित रूपान्तर बहुधा प्राचीन ब्रज के लेखकों में मिलते हैं, **म्वहिं** (सूर० म० १२), **मोहि,** (सेना० १८), **मोहीं** (बिहारी० ४७), **मुहिं** (दास० १५-६७)।

समानार्थी बहुवचन रूप **हमैं** संपूर्ण क्षेत्र में नियमित रूप में मिलता है : **हमैं देखो** प्राचीन ब्रज में **हमैं** अधिकता से पाया जाता है, किंतु कभी कभी इसका अधिक प्राचीन रूप **हमहि** प्रयुक्त हुआ है : **काल्हि हमहिं कैसे निदरतिं ही** (सूर० य० १५), **हमैं जानि परी** (दास० ३०-३१)। अनुनासिकता के संबंध में संशय होने के कारण कभी कभी, यद्यपि बहुत कम, निम्नांकित रूपांतर मिल जाते हैं : **हँमैं** (पद्मा० ६-२८), **हमै** (पद्मा० २४-१०४); **हमें** (मति० ४१) (दे० खड़ीबोली **हमें**)।

सूर० य० २१ में **हमहिं** का प्रयोग बिना परसर्ग के अपादान कारक में हुआ है : **की पुनि हमहिं दुराव करोगी।**

वैकल्पिक रूप ने विकृत रूप तथा परसर्गों के साथ उपर्युक्त सर्वनाम मूलक संयोगात्मक रूप का प्रयोग केवल ब्रज तथा बुंदेली तक सीमित है। खड़ी बोली तथा साहित्यिक हिंदी में **मझ् मुझ** से बने हुए **मझे मुझे** आदि मिलते जुलते रूप से इसका मिलान किया जा सकता है। संयोगात्मक वैकल्पिक बहुवचन रूप का व्यवहार ब्रज तथा खड़ीबोली (**हमें**) तक सीमित है।

१६१. उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाममूलक संबंधवाची विशेषणों में से निम्नलिखित मुख्य रूप हैं :

पुल्लिं०	मूल०	एक०	**मेरो, मेरौ**
,,	,,	बहु०	**हमारो, हमारौ**
पुल्लिं०	विकृत	एक०	**मेरे**
,,	,,	बहु०	**हमारे**
स्त्री०	मूल०	एक०	**मेरी**
,,	,,	बहु०	**हमारी**

पुल्लिं० मूल० एक० **मेरो,** बहु० **हमारो** संपूर्ण क्षेत्र में बोले जाते हैं : **मेरो यार आयो, हमारो सिन्दूक् कहाँ है।** दक्षिण और पश्चिम के कुछ भागों में (म० उ० बु० म० ग्वा० प०; आ० अ०) **मेरो** तथा **हमरो** अधिक प्रचलित रूप हैं (§ [illegible])। पूर्व [illegible] में कभी कभी **मोरो, हमरो** बोले जाते हैं [illegible] **मोर**, [illegible] **मोरो**)।

बदायूँ के एक नमूने में *मेरे ताँई* का प्रयोग *मेरो* के अर्थ में हुआ है : *छठे महीना मेरे ताँई जनम् हुइ जाएगो* (छठवें मास में मेरा जन्म हो जायगा)।

व्रज साहित्य में भी *मेरो* तथा *हमारो* रूप बहुत अधिकता से प्रयुक्त होते हैं। *मेरौ* तथा *हमारौ* कभी कभी मिलते हैं : घना० १३, लल्लू० १५-६। अवधी रूप *मोर* बहुत कम मिलता है। सूर० य० ७ में यह व्यवहृत हुआ है, किंतु वहाँ छंद की आवश्यकता के कारण यह आया है : *कान्ह जीवन-धन मोर*।

संबंधवाचक विशेषण पुल्लिग विकृत रूप एकवचन *मेरे*, बहुवचन *हमारे* तथा स्त्रीलिंग मूलरूप विकृतरूप एकवचन *मेरी* बहुवचन *हमारी* का प्रयोग बिना किन्हीं रूपान्तरों के आधुनिक तथा प्राचीन व्रज में होता है : *मेरे बापू को घर है, हमारे पुरखन की जाएदात् है : मेरी रोटी कहां है, हमारी जमीन जा है।* कभी कभी, किंतु बहुत कम, कुछ पूर्वी लेखकों में हमे *मेरे* के स्थान पर *मोरे* मिलता है : तुलसी० क० २-२६। स्पष्ट ही यह प्रयोग अवधी *मोरू* के प्रभाव के कारण हुआ है।

विशेष—संबंधवाची विशेषण पुल्लिग स्त्रीलिंग मूलरूप विकृतरूप की भाँति प्रयुक्त *मो मों*, *मम* के प्रयोग के लिए दे० § १५८।

व्रज संबंधवाची पुल्लिग एकवचन रूप *मेरो* का प्रयोग मेवा० बुं० पहा० तथा गुर्जरी तक होता है; मिलाइए गुज० तथा राज० *मारो* या *म्हारो* और लह० पं० बांग० खड़ी० *मेरा*। पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ, अन्य पूर्वी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की भाँति *मोर्* रूप का प्रयोग करती हैं। संबंधवाची बहुवचन पुल्लिग रूप *हमारो*, व्रज के अतिरिक्त, बुं० नी० तथा गढ़० में प्रयुक्त होता है; मिलाइए कुमा० *हमरो*, जौनसा० *अमारो* नेपा० *हामरो*, मेवा० तथा गुर्ज० *म्हारो*, गुज० *आमारो*, मारवा० *म्हाँरो*, जैपु० माल० *म्हाँको* या *म्हाणो*। खड़ी० तथा बांग० में *हमारा* या *म्हारा* होता है। हिन्दी की पूर्वी बोलियाँ, अन्य पूर्वी आधुनिक आर्य भाषाओं की भाँति *हमार्* रूप के विभिन्न रूपान्तरों का प्रयोग करती है, किंतु सिं० लह० पं० *असू* रूप से बने हुए रूपों का व्यवहार करती हैं। पुल्लिग विकृत रूप *मेरे*, *हमारे* और स्त्रीलिंग रूप *मेरी*, *हमारी* का प्रचार ऊपर दिए हुए उन समस्त क्षेत्रों में होता है जहाँ *–ओ* या *–आ* अन्त्य वाले मूलरूपों का चलन पाया जाता है।

मध्यम पुरुष सर्वनाम

१६२. व्रज में मध्यम पुरुष सर्वनाम के लिए निम्नलिखित मुख्य रूप होते हैं :

		आधुनिक व्रज	प्राचीन व्रज
मूल०	एक०	तू, तूँ, तैं	तू, तूँ, तैं, तें
	बहु०	तुम्	तुम
विकृत, नियमित	एक०	तो	तो
	बहु०	तुम्	तुम

१६३. विकृत एक० *तू* सभी क्षेत्रों में मिलता है : *तू काको लौंड़ा है*। कुछ पूर्वी ज़िलों (मैं० बदा०) कुछ में *तूं* भी मिलता है और कुछ पश्चिम-दक्षिणी प्रदेशों (म० ज०

पू० धौ०) में केवल नैं परसर्ग के साथ तैं का प्रयोग अधिकता से होता है: *तैं नैं सच् कह्यो* (म०)। किंतु ग्वालियर पूर्व में अर्थात् बुंदेली क्षेत्र के आसपास यह नैं के बिना भी तू के स्थान पर नियमित रूप से व्यवहृत होता है: *तैं अपन्नो रुज्गार् सीख्*। हरदोई पूर्व में अवधी के सदृश तुइ रूप मिलता है।

प्राचीन ब्रज के लेखकों में भी मूल० एक० तू बहुत अधिकता से प्रयुक्त होता है, यद्यपि १८ वीं शताब्दी के लेखकों में तूँ बहुत प्रचलित है। निश्चय बोधक ही के साथ तू बहुधा तु हो जाता है: *तु ही एक् ईठ* (सेना० २०)। तैं साधारणतया करण कारक में प्रयुक्त होता है और १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दी के लेखकों में अधिक मिलता है: *तैं बहुतै निधि पाई* (सूर० स० ११)। ते कदाचित प्रतिलिपिकार अथवा प्रूफ़ संशोधक की असावधानी के कारण, बहुत थोड़े से स्थलों पर तैं के स्थान पर देखा जाता है: सति० ११। तैं करण तथा कर्त्ता कारक में बहुत प्रचलित है: क्यों राखी....तैं (नन्द० ३-४), *मेरे तैं ही सरवसु है* (सेना० १८)। गोकुलनाथ में ते ने परसर्ग के साथ करण कारक में प्रयुक्त हुआ है (मिलाइए आधु० ब्रज तैं नैं): *ते ने श्री गुसाईं जी को अपराध कियो है।*

मूल० एक० के तू रूप का प्रसार सिंधी० नेपा० सिंहा० जय० तथा पहाड़ी बोलियों तक मिलता है (मिलाइए बंग० अप्रचलित तुइ)। लगभग अन्य सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में अनुनासिक रूप तूं या तुं व्यवहृत होता है। केवल तीन पूर्वी भाषाएँ, जिनमें बहुवचन के रूप तुमि या तुम्भे ने एकवचन का स्थान ग्रहण कर लिया है, इस नियम के अपवाद हैं। करण कारक का तैं राज० पं० जौन० गुर्ज० तथा अन्य पश्चिमी हिंदी की बोलियों में समान रूप से मिलता है। पूर्वी हिन्दी की बोलियों में तूं तथा तैं में भेद नहीं किया जाता है।

१६४ विकृत० एक० तो परसर्गों के साथ आधुनिक तथा प्राचीन ब्रज में भी विभिन्न प्रकार के संबंधों को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है: *तो पै इत्तोउ काम् नाएँ होत्*। बुलंदशहर में खड़ी० हिन्दी का तुझ भी साथ साथ मिलता है। तुलसी० रा० २-२५ में अवधी रूप तोहि प्रयुक्त हुआ है: *केहि भाँति कहौं सयानी तोहि सों।*

तो रूप का प्रयोग बं० पूर्वी हिन्दी की बोलियों, बि० भोज० उड़ि० तक सीमित है। आधुनिक की भाषाओं में इसका प्रयोग केवल छोटों के लिए होता है; मिलाइए राज० त [illegible], [illegible] त, मेवा० तैं, पं० तर।

(लल्लू० ७-६)। नें के पहले प्रयुक्त होने पर *तुम्* के *तुमन्* हो जाने के उदाहरण करौली में मिले हैं।

मूल० वहु० *तुम्* हिंदी की सभी वोलियों में, तथा प० और पू० पहा० (विकृत० *तुमूँ* अथवा *तुमन्*), मेवा० और नीम० में भी मिलता है; मिलाइए गुज० गुर्जे० *तम्*, मारवा० *तमे, थें* (विकृत० *थाँ, तमाँ*), नैपा० *तिमि*, विहा० *तोह*।

१६६. 'तेरे लिए' आदि के अर्थ के द्योतक निम्नलिखित संयोगात्मक वैकल्पिक रूप वहुत प्रचलित हैं :

	आधुनिक व्रज	प्राचीन व्रज
एक०	*तोए, तोय*	*तोहिं तोहि*
वहु०	*तुमैं*	*तुम्हैं, तुमहिं*

आधुनिक व्रज में एक० रूप *तोए* पूर्वी क्षेत्र तक सीमित है, पश्चिम तथा दक्षिण में इसका साधारण उच्चारण *तोय* है : *तोए रोटी दै देऔं*। कुछ पूर्व के सीमान्त जिलों में (का० ह०) *तोहि* रूप भी मिलता है।

प्राचीन व्रज में *तोहिं तोहि* के वरावर ही प्रचलित है : *सपन सुनावत तोहिं* (भूषण० १३)। विहारी० ३६ मे *तोहिं* निश्चय वोधक अर्थ के द्योतक के रूप में प्रयुक्त हुआ है : *तोहि निर्मोही लग्यौ मो ही*।

विकृत रूप वैकल्पिक वहुवचन *तुमैं* (तुम्हारे लिए) आधुनिक व्रज में साधारण रूप है : *तुमैं काम कर्नो चइऐ*। वुलंदशहर में *तमैं* और फ़र्रुखावाद में *तुम्हैं* साधारण उच्चारण है। इस अर्थ को व्यक्त करने के लिए परसर्ग के सहित संवंधसूचक विकृत रूप का प्रयोग अधिक होता है : *तेरे ताँईं, तुम्हारे ताँईं* इ०।

प्राचीन व्रज में *तुम्हैं* साधारण रूप है : *तुमहिं* कभी कभी और *तुम्हे* वहुत कम मिलता है : *तुम्हैं न हठौती* (नरो० १३)। आधुनिक रूप *तुमै* (नन्द० १-९२) तथा हिन्दी *तुम्हें* (घना० १३) वहुत कम मिलते हैं।

विकृत रूप वैकल्पिक *तोय* आदि रूप व्रज की एक मुख्य विशेपता हैं और केवल वुंदेली में मिलते हैं।

१६७. मध्यम पुरुप सर्वनाममूलक संवंधवाची विशेपणों के निम्नलिखित रूप व्रज में अधिकता से प्रयुक्त होते हैं।

			आधुनिक व्रज	प्राचीन व्रज
पुल्लि०	मूल०	एक०	*तेरो, तेरौ*	*तेरो, तेरौ*
,,	,,	वहु०	*तुम्हारो, तुमारो, तिहारो* (वु०)	*तुम्हारो, तिहारो*
,,	विकृत०	एक०	*तेरे*	*तेरे*
,,	,,	वहु०	*तुम्हारे, तुमारे, तिहारे,* (वु०)	*तुम्हारे, तिहारे*
स्त्री०	मूल० विकृ०	एक०	*तेरी*	*तेरी*
,,	,, ,,	वहु०	*तुम्हारी, तुमारी, तिहारी* (वु०)	*तुम्हारी, तिहारी*

पुल्लि० मूल० एक० *तेरो* का प्रयोग संपूर्ण क्षेत्र में होता है : *तेरो बाप् आए गओ।* केवल पश्चिम और दक्षिण (आ० अ० बु० ज० पू० क०) में *तेरौ* साधारण रूप है। पुल्लि० विकृत० *तेरे* और स्त्री० विकृत० *तेरी* के कोई रूपान्तर नहीं होते हैं : *तेरे खेत् में पानी भरो है, तेरी लौंड़िआ कौं ब्याही है ?*

प्राचीन ब्रज में *तेरो* अधिक प्रचलित रूप है, किंतु *तेरौ* कभी कभी मिलता है : बिहारी० ६०। *तेरे* तथा *तेरी* के भी कोई रूपान्तर नहीं होते हैं। सेना० २९ में निश्चयबोधक *ये* के साथ पूर्वी रूप *तोरि-* मिलता है : *तोरि-ये सुवास और वासु मे बसाति है।*

सं० *तव* रूप पर आधारित कतिपय संबंधसूचक एक० रूपों का प्रचुरता से प्रयोग होता है। लिंग अथवा कारक के लिए इन रूपों में कोई विकार नहीं होता है। स्वयं *तव* बहुत कम मिलता है (भूषण० ४८) किंतु *तुव* और *तो* का प्रयोग अधिक होता है : *तुव ध्यानहि में हिलिहिलि* (दास० २३-२६), *मो मन तो मन साथ* (बिहारी० ५७)।

तेरो आदि रूपों का प्रचार ब्र० मेवा० पहा० तथा गुजं० तक मिलता है। मिलाइए राज० *थारो*, कन्नौ० द० बांग० और खड़ी० *तेरा*। पूर्वी भाषाओं में *तोर्* रूप मिलता है।

संबंधसूचक विशेषण के बहुवचन के *तुम्हारो, तुम्हारे, तुम्हारी* रूपों का प्रचार पूर्वी क्षेत्र तक सीमित है : *जौ तुम्हारो घर् है, तुम्हारे चचा गाँओ गए, तुम्हारी चाची आए गईं।* पश्चिम में इन रूपों का उच्चारण *तुमारो, तुमारे, तुमारी* होता है अर्थात् इनके महाप्राणत्व का लोप हो जाता है। बुलंदशहर में *तिहारो, तिहारे, तिहारी* रूप प्रचलित हैं और मैनपुरी में *त्यारो, त्यारे, त्यारी* रूप मिलते हैं।

कन्नौजी के कुछ नमूनों में *तुमरो तुमारो* और *तियारो* रूप पुल्लि० मूल० बहु० में मिलते हैं। साहित्यिक पश्चिम में मैनपुरी के *त्यारो* तथा पूर्वी प्रदेश के *तुम्हारो* के साथ साथ *तिहारो* मिलता है।

मिलाइए जौन० *तुहारो*, पूर्वी बोलियों के *तोहार*, *तुहार्* या *तोहर्*, मेवा० गुर्ज० *थारो* तथा राज० *थाँरो* इ०।

दूरवर्ती निश्चयवाचक

१६८. दूरवर्ती निश्चयवाचक रूपों का प्रयोग अन्य पुरुष सर्वनाम तथा निश्चय बोधक विशेषण के लिए भी स्वतंत्रतापूर्वक होता है। इन सर्वनामों के संबंध में एकवचन तथा बहुवचन का भेद कड़ाई के साथ किया जाता है। आधुनिक ब्रज में इसका प्रयोग नित्य संबंधी के रूप में भी होता है। केवल आधुनिक ब्रज में मूल० एक० के अतिरिक्त पुल्लि० तथा स्त्री० के लिए कोई पृथक् रूप नहीं होते हैं।

निम्नलिखित मुख्य रूप ब्रज में प्रयुक्त होते हैं :

		आधुनिक ब्रज	प्राचीन ब्रज
मूल० एक०	पु०	*बौ, बु, बो;*	
		वौ वो;	*वह*
		गु	
	स्त्री०	*बा; वा; ग्वा*	
	बहु०	*बे, बै; वे, वै;*	*वे, वै*
		ग्वे	
विकृत० एक०		*बा, वा, ग्वा*	*वा* (व्यक्ति० सर्व०)
	बहु०	*उनु; बिनु, विनु; ग्वनु*	*उन* (व्यक्ति० नित्य०)
			विन (बाद के गद्य में)

१६९. मूल० पुल्लि० एक० *वो* कुछ पूर्वी प्रदेशों में सामान्यतः तथा कभी कभी पश्चिम के एक बड़े भाग में और दक्षिण में भी प्रयुक्त होता है (ब० बदा० पी० में नियमित रूप से, कभी कभी मैं० ए० इ० में; भ० ज० पू० बौ० ग्वा० प० में; बु० में भी)। *वो जात् है*। शाहजहाँपुर में इस रूप का साधारण उच्चारण *वउ* है। प्रायः पश्चिम और दक्षिण के कई प्रदेशों में (आ० ग्वा० प० बौ० मैं० ए०, कभी कभी बदा० इ० में) *वु* नियमित रूप से मिलता है। दक्षिण में (भ० क० बौ० ब० इ० में भी) *वो* भी मिलता है। *वौ* मथुरा तक सीमित है और *वो* दक्षिण में (भ० ज० पू० क०) प्रयुक्त होता है। कुछ पूर्व के सीमान्त जिलों में अव० रूप *उओ* (फ़०), *ऊ* (ह०), *वहु*, *वउ* (का०) व्यवहृत होते हैं। अलीगढ़ में एक असाधारण रूप *गु* है : *गु जातु अए*।

मूल० स्त्री० एक० *वा* संपूर्ण क्षेत्र में प्रयुक्त होता है : *वा जात् है*। केवल मथुरा, हरदोई में *वा* तथा अलीगढ़ में *ग्वा०* मिलता है।

प्राचीन ब्रज में *वह* बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है, विशेष रूप से अन्य पुरुष सर्वनाम तथा दूरवर्ती निश्चयवाचक के लिए। यह रूप पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों के लिए ही प्रयुक्त होता है : *कहा वह जाने रस* (नन्द० ५-३५), *वह कौन नवेली* (रस० १०)

निश्चयवाचक सर्वनाम मूल० एक० **वह, वो,** वो कभी कभी **ओह, उह्** अथवा ओ ऊ में भी परिवर्तित हो कर समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में मिलता है। केवल गुजराती तथा तीन पूर्वी भाषाओं में, जिनमें **स्-** अथवा **त्-** रूप मिलते हैं, ऐसा नहीं होता है। अलीगढ़ तक सीमित **गु** तथा **ग्व** रूप असाधारण हैं। किसी भी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में ऐसे रूप नहीं पाए जाते हैं।

१७०. मूल० बहु० वे अथवा **वै** सामान्यतः पूर्व और दक्षिण में (ब० बदा० पी० इ० मै० ए०, म० ज० पू० धौ० ग्वा० प०, आगरा में भी; कभी कभी म० बु० फ़० में) प्रयुक्त होता है : वे **जात् हैं,** वे **जाति हैं**। पूर्व तथा पश्चिम के कुछ क्षेत्रों में (म० क० गा०, कभी कभी बु० ज० पू० में) वे अधिक प्रचलित है। बुलंदशहर में वै व्यवहृत होता है जो कभी कभी आगरा में भी मिलता है। कुछ पूर्व के सीमान्त जिलों में अवधी रूप अथवा अवधी से प्रभावित रूप मिलते हैं: वइ (शा०), उइ (ह० का०), उए (फ़०) अलीगढ़ में ग्वे प्रचलित है।

प्राचीन ब्रज में वे अत्यधिक प्रचलित है। उसकी तुलना में वै का प्रयोग बहुत कम मिलता है।

बहु० रूप वे, वे अथवा वँ का प्रचार पश्चिमी हिन्दी बोलियों और राज० गढ़० तथा गुजं० तक में मिलता है। अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में ओ-स्- या त्- रूप मिलता है। परसर्गों के साथ विकारी रूप के रूपों का प्रयोग विभिन्न संबंधों को प्रकट करने के लिए होता है।

१७१ आधुनिक ब्रज में विकृत० एक० **वा** का प्रचार सामान्यतः पूर्व तथा दक्षिण में (आ० में भी, मिश्रित रूप में तथा बु० में कभी कभी) होता है : **वा पै चलो नाएँ जात्**। कुछ पश्चिमी तथा दक्षिणी क्षेत्रों में (म० बु० क०, कभी कभी ज० पू०) इसका उच्चारण वा होता है। पूर्व के सीमान्त जिलों में अवधी रूप मिलते हैं। **ओहि** (फ़०), उऽ (ह०), वहि उहि, उइ (का०), अलीगढ़ में ग्वा का प्रचार है।

प्राचीन ब्रज में वा अन्य पुरुष सर्वनाम की भाँति प्रचुरता से प्रयुक्त होता है। सो पा ने कही (सो० ४६-८)।

की बोली में वेइन् नै विन् नै के लिए मिलता है। बोलने वालों के भ्रम के कारण ऐसे रूपों का उद्भव हो सकता है।

प्राचीन व्रज में उन का अन्यपुरुष सर्वनाम के रूप में व्यवहार प्रचलित है, किंतु यह नित्यसंबंधी के रूप में भी मिलता है : भोजन करत तुष्टि घर उन के (सूर० वि० ११)। विन् का चलन बाद के गद्य लेखकों तक सीमित है : लल्लू० १२-१३, अष्ट० ९४-१।

विकृत० बहु० उन या विन रूपों का प्रयोग धुर पूर्व की भाषाओं को छोड़ कर, लगभग सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में होता है।

१७३. निम्नलिखित अत्यधिक महत्त्वपूर्ण संयोगात्मक वैकल्पिक रूप हैं :

		आधुनिक व्रज	प्राचीन व्रज
'उस' (पुरुष अथवा स्त्री) के लिए	एक०	वाए, वाए, ग्वाए	वाहि
'उन' के लिए	बहु०	उनैं, विनैं, ग्वनैं	

संयोगात्मक बहुवचन रूपों का व्यवहार नियमित रूप से निश्चयवाचक विशेषण की भाँति नहीं होता है। केवल एकवचन रूप कभी कभी, किंतु बहुत कम, इस प्रकार की वाक्य रचनाओं में विशेषण की भाँति प्रयुक्त होता है : वाए आदमिऐ दै देओ।

विकृत रूप वैकल्पिक एक० वाए ('उसके लिए') बिना किसी परसर्ग के संपूर्ण क्षेत्र में मिलता है : वाए आम् दै देओ : किंतु अपवादस्वरूप बुलंदशहर करौली में वाए, पूर्वी सीमान्त ज़िलों (शा० का० ह०) में उसइ तथा अलीगढ़ में ग्वाए मिलता है। फरुखाबाद में संयोगात्मक रूप नहीं मिलता है, किंतु अवधी की भाँति ओहिका प्रयुक्त होता है।

प्राचीन व्रज में वाहि प्रचलित है (वाहि लखैं बिहा० १०९)। छंद की आवश्यकता के कारण यह कभी कभी उहिं (बिहा० ७७) या उहि० (देव० ३, ८२) हो जाता है। इन रूपों पर अवधी का प्रभाव स्पष्ट है। संयोगात्मक वैकल्पिक रूप बहु० उनैं का प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में होता है, विशेष रूप से पूर्व में (व० पी० शा० इ० बु० ज० पू०) : उनैं रोटी दै देओ। जयपुर पूर्व में कभी कभी उन्नैं रूप मिलता है। विनैं रूप मुख्यतया पश्चिम और दक्षिण (आ० धौ० ए० बदा०) में बोला जाता है, भरतपुर में विनैं तथा पूर्वी ज़िलों में अवधी उन्हैं प्रचलित है (ह० का० फ०)। अलीगढ़ में ग्वनैं रूप का चलन है।

संयोगात्मक वैकल्पिक रूपों का प्रयोग मथुरा, करौली, ग्वालियर पश्चिम में कम होता है।

संयोगात्मक वैकल्पिक रूप व्रज की प्रमुख विशेषता हैं और केवल बुंदेली में मिलते हैं : मिलाइए खड़ीबोली उसे, उन्हें।

निकटवर्ती निश्चयवाचक

१७४. व्रज में निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम के लिए निम्नांकित मुख्य रूप होते हैं :

	आधुनिक ब्रज	प्राचीन ब्रज
एक०	यु, यो, यि, ये,	
	जु, जी, जि, जे	यह
स्त्री०	या, जा, गि, गु	
बहु०	ये, जे, गे	ये, ए
विकृत० एक०	या, जा, ग्या	या
बहु०	इन्, जिन्	इन

निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम के मूल० तथा विकृत० रूपों का प्रयोग स्वतंत्रता-पूर्वक विशेषण की भांति भी होता है; पृथक् स्त्रीलिंग रूप केवल मूल० एक० में होते हैं और वह भी आधुनिक ब्रज में ही।

१७५. मूल० पु० एक० जी ('यह') कुछ पूर्वी प्रदेशों तक सीमित है (ब० पी०, कभी कभी म० में) : जी कहा है। कुछ पूर्व के सीमान्त जिलों में (शा० ह०) इसका उच्चारण जउ होता है। ये दक्षिण तथा पश्चिम के कुछ क्षेत्रों में मिलता है (म० ज० पू० र०, कभी कभी म०), किन्तु उसी क्षेत्र के अन्य प्रदेशों में जि अधिक प्रचलित रूप है (आ० अ० ग्वा० प० मैं० भी, कभी कभी धौ०)। धौलपुर तथा इटावा में जे नियमित रूप से प्रयुक्त होता है। जु मैनपुरी बदायूं तक सीमित है। यु बुलंदशहर में प्रचलित है। यह कभी कभी जयपुर पूर्व में भी मिलता है और वहां यो भी व्यवहृत होता है। अलीगढ़ में गि रूप, जो कभी कभी बुलंदशहर भरतपुर में भी मिलता है, चलता है। कुछ पूर्वी सीमान्त जिलों में अवधी रूप मिलते हैं : इह्यो (फ़०), ई (का०), यहु यउ (ह०, कभी कभी शा० में)।

मूल० स्त्री० एक० जा का प्रसार अधिकतर ब्रज क्षेत्र में होता है, विशेष रूप से पूर्व में, जा काफी सम्मा है। पश्चिम और दक्षिण के कुछ स्थलों में (म० बु० भ० ज० पू०) या नियमित रूप है। फर्रुखाबाद में अवधी रूप इआ तथा पीलीभीत में जह अधिक प्रचलित रूप है। बुलंदशहर में गु वैकल्पिक स्त्री० रूप होता है। हरदोई तथा जयपुर में पृथक् स्त्री० रूप नहीं प्रचलित है।

ए हो जाते हैं। य- का ज- में परिवर्त्तन केवल बुंदेली के साथ साथ व्रज की एक प्रमुख विशेषता है।

१७६. मूल० वहु० **जे** पूर्व में अधिक प्रचलित है, किंतु यह पश्चिम तथा दक्षिण के भी कुछ प्रदेशों में प्रचलित है (व० वदा० पी० मै० ए० इ०, म०, धौ०, ग्वा० प० कभी कभी भ० का० में), ***जे गाँओं जात् हैं, जे काँ से आई हैं***। शाहजहाँपुर में यह ***जइ*** की भाँति वोला जाता है। पश्चिम तथा दक्षिण में (म वु० भ० क० ज० पू० का भी) ***ये*** अधिक प्रचलित है। पूर्व के सीमान्त ज़िलों में अवधी रूप अथवा उसका प्रभाव देखा जाता है : ***ई*** (ह०), ***इए*** (फ०)। भरतपुर में वैकल्पिक रूप ***गे*** होता है।

प्राचीन व्रज में मूल० वहु० रूपों का प्रचुर प्रयोग आदरार्थ में एकवचन के लिए होता है। उसमें ***ये*** अत्यधिक प्रचलित रूप है : ***नन्दहु ते ये वड़े कहैहैं*** (सूर० म० ६)। ***ए*** भी साथ साथ मिलता है, विशेष रूप से विहारी में (दे० ६३-६७); किंतु ***ऐ*** वहुत कम मिलता है (लाल १५-१)।

१७७. विकृत० एक० ***जा*** अधिकांश व्रज क्षेत्र में प्रयुक्त होता है, विशेष रूप से पूर्व में : ***जापै चलो नाए जात्***। पश्चिम तथा दक्षिण के कुछ प्रदेशों में ***या*** अधिक प्रचलित है (म० वु० कभी कभी क० ज० पू० में)। अलीगढ़ में एक वैकल्पिक रूप ***ग्या*** होता है। पूर्वी सीमान्त जिलों में अवधी रूप मिलते हैं। ***एहि*** (फ० ह०), ***ई*** (का०), कानपुर में वैकल्पिक रूप से प्रयुक्त ***जहि ज्यहि*** में अन्तिम ***'हि'*** अवधी की है।

प्राचीन व्रज में ***या*** का प्रयोग, विभिन्न संवंधों को व्यक्त करने में, अनिवार्य रूप से परसर्ग के साथ होता है : ***या में संदेह नाहीं*** (लाल ९-२४)।

विकृत० एक० ***य-*** रूप केवल वुंदेली, पूर्वी हिन्दी की वोलियों तथा मेवाती तक होता है। अन्य भाषाओं में प्रायः ***-ह*** से युक्त अथवा विना ***-ह*** के ***इ-*** अथवा ***ए-*** के आधार पर वने हुए रूप विकसित हुए हैं। कुछ भाषाओं ***-ह -स*** के रूप में मिलता है, मि० खड़ी० ***इस्***।

१७८. विकृत० वहु० ***इन्*** संपूर्ण व्रज क्षेत्र में प्रचलित रूप है : ***इन् के कै लौंड़ा हैं*** अलीगढ़ में इसका उच्चारण ***इनु*** होता है तथा ***जिनि*** (आ०) और ***जिन्*** (ग्वा० प० कभी कभी धौ० में) भी पश्चिम तथा दक्षिण में मिलते हैं। फर्रुखावाद के एक उदाहरण में ***नैं*** परसर्ग के साथ ***इनन्*** प्रयुक्त मिलता है।

प्राचीन व्रज में ***इन*** नियमित रूप है और परसर्गों के साथ विभिन्न संवंधों को व्यक्त करने में प्रयुक्त होता है : ***इन सों मैं करि गोप तवै*** (सू० य० १०)। अवधी रूप ***इन्ह*** केवल तुलसी में मिलता है : कवि० गी० ४। ***इन*** कभी कभी विना परसर्ग के प्रयुक्त होता है, विशेष रूप से विहारी में : ***इन सौंपी मुसकाए*** (विहा० १२८, दे० देव० ३-८२)।

विकृत० वहु० ***इन्-*** रूप अत्यन्त प्रचलित है और धुर पूर्वी भाषाओं को छोड़ कर लगभग सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में मिलता है। कुछ भाषाओं में ***-न-*** केवल अनुनासिकता के रूप में विद्यमान है, गढ़० ***यूँ***, स्त्री० ***एऊँ***।

१३९. निम्नलिखित संयोगात्मक वैकल्पिक रूप सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं :

इसके लिए   एक० याए, जाए, ज्याय,   याहि

बहु० इनैं, जिनैं   इन्हैं

निश्चयवाचक वैकल्पिक एक० जाए (इस पुरुष अथवा स्त्री के लिए) लगभग सभी बोलियों में, विशेष रूप से पूर्व में, प्रयुक्त होता है : जाए आमु दै देओ। पश्चिम और दक्षिण के कुछ स्थलों में (बु० ज० पू० क०, कभी कभी म० ग्वा० प० में) याए अधिक प्रचलित रूप है। अलीगढ़ में ज्याय होता है। कुछ पूर्वी जिलों में (शा० ह० का०) [illegible] रूप इनैं बहुत प्रचलित है। फर्रुखाबाद में कोई पृथक् संयोगात्मक रूप नहीं है और यहाँ अवधी रूप एहिका व्यवहृत होता है। संयोगात्मक एक० याहि प्राचीन ब्रज में बहुधा रूप प्रयुक्त होता है : झूँठे दोस लगावति याहि (सूर० म० ३)। अवधी रूप इहि कविताओं में मिलता है : इहिं पाएँ हीं बौराए (बिहारी० १९२)। इहि तथा इहिं कविताओं में निश्चयवाचक विशेषण के समान भी प्रयुक्त हुए हैं : तजन प्रान इहि बार (२०)। संयोगात्मक वैक० बहु० इनैं सभी रूपों में से अत्यधिक प्रचलित है (ब० पी० [illegible] मै० [illegible] म० ज० पू०), इनैं रोटी दै देओ। कुछ पूर्वी जिलों में इसके उच्चारण में अवधी रूप का प्रभाव लक्षित होता है : इनइँ (शा०), इन्हैं (फ० ह० का०)। एटा में इनें रूप है। पश्चिमी रूप जिनैं आगरा, धौलपुर तक सीमित है तथा कभी कभी अलीगढ़ में मिलता है। मथुरा, करौली तथा ग्वालियर पश्चिम में यह बहुत कम मिलता है।

प्राचीन ब्रज में इन्हैं आदर्श रूप माना जा सकता है : तू जिन इन्हैं पत्याइ (बिहारी० [illegible])। किंतु कविता संबंधी [illegible] के कारण इसके साथ साथ कई अन्य रूप भी मिलते हैं : इन्है (सूर० म० १८), इन्हहिं (कुम्भन० कवि० गी० ४), जो यथासंभव अवधी इन्ह-न [illegible] है, इन्हइ ([illegible]० २६-१६), इन्हहिं (पद्मा० ७-२१) तथा अधिक आधुनिक रूप इनैं ([illegible]० २-१३)।

संयोगात्मक वैकल्पिक रूप ब्रज की प्रमुख विशेषता है, मिलाइए खड़ीबोली के इस प्रकार के रूप इसे, इन्हें।

नित्यसम्वन्धी

मूल०	एक०	*सो, सौ*	*सो*
	वहु०	*सो, ते*	*ते से*
विकृत०	एक०	*ता*	*ता*
	वहु०	*तिन्*	*तिन*

१८१. संवंधवाचक तथा नित्यसंवंधी सर्वनामों के विभिन्न रूप नियमित रूप से लगभग संपूर्ण व्रज क्षेत्र् में व्यवहृत होते है: *जो गओ हो सो आए गओ, जो जाङ्गे सो आए् जाङ्गे, जा सै काम लेओं ता कौ पैसा देओं, जिन् पै पैसा है तिन् पै अकल् नाएँ है।*

किंतु मथुरा में *जो, सो, जौ, सौ* की भाँति वोले जाते है। मूल० वहु० रूप *ते* नित्यसंवंधी की भाँति ग्वालियर पश्चिम में प्रयुक्त होता है। पूर्व के कुछ सीमान्त जिलों मे (हृ० का० फ०), अवधी रूप मूल० एक० *जौन् तौन्*, विकृत० एक० *जेहि तेहि* तथा हिन्दी संयोगात्मक वैकल्पिक *जिसे, तिसे; जिन्हें, तिन्हें* अधिकता से प्रयुक्त होते है।

दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम के भिन्न भिन्न रूपों का प्रयोग संपूर्ण व्रज प्रदेश के विभिन्न भागों मे होता है: *जो गओ हो वो आए गओ* अन्य पुरुष सर्वनाम के रूप साधारणतया संवंधवाचक तथा नित्य संवंधी दोनों की ही भाँति केवल मूल० वहु० में कुछ भागो (म०; क० धौ०; मै० ए० वदा०) मे प्रयुक्त होते है: *वे गए हे वे आए् गए।*

इन सर्वनामों के संयोगात्मक वैकल्पिक रूप कुछ भागों में (म०; क० धौ० मै० ए० ग्वा० प०) वहुत कम प्रयुक्त होते हैं।

प्राचीन व्रज मे संवंधवाचक सर्वनाम के नियमित रूप मूल० एक० *जो*, मूल० वहु० *जे*, विकृत० एक० *जा*, विकृत० वहु० *जिन* होते है। किन्तु आधुनिक व्रज के विपरीत प्राचीन व्रज मे संवंधवाचक सर्वनामों मे मूल० एक० तथा वहु० रूपों का अन्तर कडाई के साथ व्यवहार मे लाया जाता है: *जो आवै सो कहै* (गोकुल १५-१०) *जे संसार अँध्यार अगर में मगन भये वर* (नन्द० १-१७)। *जासु, तासु* रूप कभी कभी 'जिसके,' 'उनके' अर्थ मे प्रयुक्त हुए पाए गए है।

जो कभी कभी छद की आवश्यकता के कारण *जु* में परिवर्त्तित कर लिया जाता है: *भ्रू विलसत जु विभूति* (१-२७, दे० विहारी० ८३, दास २-८)। अवधी रूप *जेहि जिहि* या *जिहिं* कभी कभी प्रयुक्त होता है: *जिहि के वस अनिमिप अनेक गए* (तुलसी० क० २-५; दे० सूर० वि० १३, नन्द० १-९)। करण कारक में *ने* के विना *जिन* वहुधा प्रयुक्त होता है: *कह्यो तिय को जिन कान कियो है* (तुलसी० क० २-२०, दे० नाभा० १८, रस० १२)। *जिननि* ('जिनमें') लल्लूलाल में मिलता है: *जिननि बड़े तीरथनि में अति कठिन तप व्रत किये हैं* (५-४)। अवधी रूप *जिन्ह* वहुत कम मिलता है और उसका प्रयोग प्रायः तुलसी तक सीमित है: *जिन्ह के गुमान सदा सालिम सङ्ग्राम को* (क०

१७९. निम्नलिखित संयोगात्मक वैकल्पिक रूप सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं :

'इसके लिए'	एक०	*याए, जाए, ज्याय,*	*याहि*
	बहु०	*इनैं, जिनैं*	*इन्हैं*

विकृतरूप वैकल्पिक एक० *जाए* (इस पुरुष अथवा स्त्री के लिए) लगभग सभी प्रदेशों में, विशेष रूप से पूर्व में, प्रयुक्त होता है : *जाए आम् दै देऔ* । पश्चिम और दक्षिण के कुछ स्थलों में (बु० ज० पू० क०, कभी कभी म० ग्वा० प० में) *याए* अधिक प्रचलित रूप है। अलीगढ़ में *ज्याय* होता है। कुछ पूर्वी ज़िलों में (श० ह० का०) खड़ीबोली रूप *इसै* बहुत प्रचलित है। फर्रुखाबाद में कोई पृथक् संयोगात्मक रूप नहीं है और वहाँ अवधी रूप *एहिका* व्यवहृत होता है। संयोगात्मक एक० *याहि* प्राचीन ब्रज में बहुत कम प्रयुक्त होता है : *जूँठे दोस लगावति याहि* (सूर० म० ३) । अवधी रूप *इहिं* बिहारी में मिलता है : *इहिं पाएँ हीं बौराए* (बिहारी० १९२) । *इहि* तथा *इहिं* बिहारी में निश्चयवाचक विशेषण के समान भी प्रयुक्त हुए हैं : *तजन आन इहि बार* (१५) । संयोगात्मक वैक० बहु० *इनैं* सभी रूपों में से अत्यधिक प्रचलित है (ब० पी० इ० मैं०; अ० बु०; भ० ज० पू०), *इनैं रोटी दै देऔ* । कुछ पूर्वी जिलों में इसके उच्चारण में अवधी रूप का प्रभाव लक्षित होता है : *इनइँ* (शा०), *इन्हैं* (फ० ह० का०) । एटा में *इनें* रूप है। पश्चिमी रूप *जिनें* आगरा, धौलपुर तक सीमित है तथा कभी कभी अलीगढ़ में मिलता है। मथुरा, करौली तथा ग्वालियर पश्चिम में यह बहुत कम मिलता है।

प्राचीन ब्रज में *इन्हैं* आदर्श रूप माना जा सकता है : *तू जिन इन्हैं पत्याइ* (बिहारी० ६६) । लिपि संबंधी गड़बड़ी के कारण इसके साथ साथ कई अन्य रूप भी मिलते हैं : *इन्हें* (सूर० य० १८), *इन्हहिं* (तुलसी० कवि० गी० ४), जो कदाचित् अवधी *इन्ह*- से प्रभावित है, *इन्हइ* (लाल० २६-१६), *इन्हहिं* (पद्मा० ७-३१) तथा अधिक आधुनिक रूप *इनें* (नन्द० २-१३) ।

संयोगात्मक वैकल्पिक रूप ब्रज की प्रमुख विशेषता हैं, मिलाइए खड़ीबोली के इस प्रकार के रूप इसे, इन्हें।

सम्बन्ध वाचक और नित्यसम्बन्धी सर्वनाम

१८०. इन सर्वनामों के निम्नलिखित मुख्य रूप ब्रज में व्यवहृत होते हैं :

सम्बन्धवाचक

		आधुनिक	प्राचीन
मूल०	एक०	*जो, जौ*	*जो*
	बहु०	*जो, जे*	*जे*
विकृत०	एक०	*जा*	*जा, जेहि इ०*
	बहु०	*जिन्*	*जिन*

नित्यसम्वन्धी

मूल०	एक०	सो, सौ	सो
	वहु०	सो, ते	ते से
विकृत०	एक०	ता	ता
	वहु०	तिन्	तिन

१८१. संवंधवाचक तथा नित्यसंवंधी सर्वनामों के विभिन्न रूप नियमित रूप से लगभग संपूर्ण व्रज क्षेत्र में व्यवहृत होते हैं : *जो गओ हो सो आए गओ, जो जाङ्गे सो आए जाङ्गे, जा सै काम लेओ ता कौ पैसा देओ, जिन् पै पैसा है तिन् पै अकल् नाएँ है।*

किंतु मथुरा में *जो, सो, जौ, सौ* की भाँति वोले जाते हैं। मूल० वहु० रूप *ते* नित्यसंवंधी की भाँति ग्वालियर पश्चिम में प्रयुक्त होता है। पूर्व के कुछ सीमान्त जिलों में (ह० का० फ०), अवधी रूप मूल० एक० *जौन् तौन्*, विकृत० एक० *जेहि तेहि* तथा हिन्दी संयोगात्मक वैकल्पिक *जिसै, तिसै; जिन्हैं, तिन्हैं* अधिकता से प्रयुक्त होते हैं।

दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम के भिन्न भिन्न रूपों का प्रयोग संपूर्ण व्रज प्रदेश के विभिन्न भागों में होता है : *जो गओ हो वो आए गओ* अन्य पुरुष सर्वनाम के रूप साधारणतया संवंधवाचक तथा नित्य संवंधी दोनों की ही भाँति केवल मूल० वहु० में कुछ भागों (म०; क० धौ०; मैं० ए० वदा०) में प्रयुक्त होते हैं : *वे गए हे वे आए गए।*

इन सर्वनामों के संयोगात्मक वैकल्पिक रूप कुछ भागों में (म०; क० धौ० मैं० ए० ग्वा० प०) वहुत कम प्रयुक्त होते हैं।

प्राचीन व्रज में संवंधवाचक सर्वनाम के नियमित रूप मूल० एक० *जो*, मूल० वहु० *जे*, विकृत० एक० *जा*, विकृत० वहु० *जिन* होते हैं। किन्तु आधुनिक व्रज के विपरीत प्राचीन व्रज में संवंधवाचक सर्वनामों में मूल० एक० तथा वहु० रूपों का अन्तर कड़ाई के साथ व्यवहार में लाया जाता है : *जो आवै सो कहै* (गोकुल १५-१०) *जे संसार अँध्यार अगर में मगन भये वर* (नन्द० १-१७)। *जासु, तासु* रूप कभी कभी 'जिसके,' 'उसके' अर्थ में प्रयुक्त हुए पाए गए हैं।

जो कभी कभी छंद की आवश्यकता के कारण *जु* में परिवर्त्तित कर लिया जाता है : *भ्रू विलसत जु विभूति* (१-२७, दे० विहारी० ८३, दास २-८)। अवधी रूप *जेहि जिहि* या *जिहिं* कभी कभी प्रयुक्त होता है : *जिहि के वस अनिमिष अनेक गए* (तुलसी० क० २-५; दे० सूर० वि० १३, नन्द० १-९)। करण कारक में *ने* के विना *जिन* वहुधा प्रयुक्त होता है : *कह्यो तिय को जिन कान कियो है* (तुलसी० क० २-२०, दे० नाभा० १८, रस० १२)। *जिननि* ('जिनसे') लल्लूलाल में मिलता है : *जिननि वड़े तीरथनि में अति कठिन तप व्रत किये हैं* (५-४)। अवधी रूप *जिन्ह* वहुत कम मिलता है और उसका प्रयोग प्रायः तुलसी तक सीमित है : *जिन्ह के गुमान सदा सालिम सङ्ग्राम को* (क०

१-९)। *जासु* तथा *तासु* रूपों का प्रयोग केशवदास में अधिकता से 'जिस का', 'उसका' के अर्थ में हुआ है : दे० ३, ३१।

१८२. *सो* नियमित रूप से नित्यसंबंधी की भाँति प्रयुक्त होता है : *सो कैसे कहि आवै जो ब्रज देविन गायो* (नन्द० ५-२८)। छन्द की आवश्यकता के कारण *सो* कभी कभी *सु* के रूप में मिलता है : *दई दई सु कबूल* (बिहारी० ५१; दे० सेना० ३५)। बहुवचन रूप *ते* बहुत प्रचलित है : *ते-ऊ उमगि तजत मर्जादा* (हित० ८) सेनापति ९ में *ते* एकवचन की भाँति प्रयुक्त हुआ है : *अङ्गलता जे तुम लगाई ते-ई विरह लगाई है*। *से* केवल तुलसी में अधिकता से प्रयुक्त है : *जे न ठगे धिक से* (तुलसी० क० १-१)। विकृत रूप एकवचन *ता*, बहुवचन *तिन*, अधिकता से प्रचलित है (सू० म० ११; नन्द० २, ३)। अवधी रूप *तिन्ह* तुलसी में अधिक प्रयुक्त हुआ है (तुलसी० गी० ३-५; दे० दास १०-४१)।

१८३. कुछ संयोगात्मक वैकल्पिक रूपों का व्यवहार स्वतंत्रता से होता है। ये विना परसर्गों के प्रयुक्त होते हैं। इनके मुख्य रूप निम्नलिखित हैं :

संबंधवाचक

		आधुनिक	प्राचीन
विकृत रूप	एक०	*जाए*	*जाहि जिहिं*
	बहु०	*जिनैं*	*जिन्हैं*

नित्यसंबंधी

विकृत रूप	एक०	*ताए*	*ताहि*
	बहु०	*तिनैं*	*तिन्हैं*

आधुनिक व्रज में *जाए जिनैं; ताए तिनैं* का बहुत व्यवहार होता है : *जाए (जिनैं) काम देओ ताए (तिनैं) पैसो देओ*। कुछ पूर्वी सीमान्त जिलों में (ह० का० फ०) निम्न-लिखित खड़ीबोली के रूप वैकल्पिक ढंग से प्रायः मिलते हैं : *जिसै, तिसै; जिन्हैं, तिन्हैं*।

प्राचीन व्रज में *जाहि, जिहिं* का प्रयोग समस्त कारकों में विना परसर्ग के होता है : *जगत जनायो जिहिं सकलु* (वि० ४१), *जिहिं निरखत नासैं* (नंद० १, ८)। बहुवचन में साधारणतया *जिन्हैं* (दास० १०, ४१), किंतु कभी कभी *जिन्हें* (केशव १, ३; नंद० ५, ७४) तथा *जिनहि* भी मिलता है। साधारणतया नित्यसंबंधी रूप *ताहि, तिन्हैं* हैं। छंद की आवश्यकता के कारण निम्नलिखित रूप भी व्यवहृत हुए हैं : *त्यहि* (सूर० वि० १४), *तेहि* (नरो० १५), *तिहि* (दास ४, ५), *तिहिं* (नंद० २, ३७), *तिन तिनैं* (नंद० १, ६२; सूर० य० १; मति० ४४)।

१८४. प्राचीन तथा आधुनिक व्रज में संबंधवाचक तथा नित्यसंबंधी सर्वनामों के रूप विशेषण के समान भी प्रयुक्त होते हैं : *जो आदमी गओ हो सो आदमी*

आए गओ इत्यादि; *महावीर ता बंस मैं भयो एक अवनीस्* (भूषण ५), *ए जिहिं रति* इत्यादि।

१८५. संबंधवाचक सर्वनाम *जो* या *जु* के रूप लगभग समस्त आधुनिक आर्य-भाषाओं में पाए जाते हैं। पूर्वी आर्यभाषाओं, नेपाली तथा पूर्वी हिंदी की बोलियों में *जो जे* के साथ *जौन* आदि रूप भी मिलते हैं। विकृत रूप एकवचन *जा* व्रज तथा बुंदेली की विशेपता हैं। अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं में *जे जिस* या *जेहि* रूप मिलते हैं। विकृत रूप बहुवचन *जिन* अत्यन्त व्यापक हैं और पश्चिमी हिंदी बोलियों के अतिरिक्त मालवी, मेवाती और लहंदा में मिलता हैं। दे० पूर्वी रूप *जिन्ह*, पं० *जिन्हाँ* और प० राज० *ज्याँ जाँ*। संयोगात्मक वैकल्पिक विकृत रूप व्रज तथा बुंदेली की विशेपता है। दे० खड़ीबोली *जिसे जिन्हें*।

नित्य संबंधी *-स* तथा *-त* रूप अन्य पुरुष सर्वनाम तथा विशेषण के समान लगभग समस्त आधुनिक भाषाओं में, विशषतया पूर्वी भाषाओं तथा गुजराती में, प्रयुक्त होते हैं। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है संयोगात्मक वैकल्पिक रूप केवल व्रज तथा बुंदेली में ही पाए जाते हैं।

प्रश्नवाचक सर्वनाम

प्राणिवाचक

१८६. इन सर्वनाम के व्रज के मुख्य रूप निम्नलिखित हैं :

	आधुनिक	प्राचीन
मूल० एक० बहु०	*को, कौन्, कोन्*	*को, कौन, कोन*
विकृत० एक०	*का, कौन्, कोन्*	*का, कौन*
बहु०	*किन्, कौन्*	*का, कौन*

मूल० एक० बहु० *कौन्* सामान्यतः पूर्व में प्रयुक्त होता है (ब० बदा० पी० ए०), किन्तु कभी कभी पश्चिम तथा दक्षिण में मिल जाता है (म० भ० क० ज० पू० धौ०) : *कौन् जात् है, कौन् जात् हैं*। पश्चिम में (म० आ० अ०) *को* सामान्य रूप है, किन्तु यदा कदा अन्य क्षेत्रों में भी व्यवहृत होता है (क० धौ० मैं० ए० इ०)। दक्षिण में (भ० ज० पू० क० ग्वा० प०, मैं० इ० में भी) *कोन्* नियमित रूप है। *कून्* बु० तक सीमित है, किन्तु पूर्व के सीमान्त जिलों में (फ० शा० ह० का०) *कौनु* प्रचलित उच्चारण है।

कौन् तथा *कोन्* परसर्गों के साथ विकृत रूपों की भाँति भी प्रयुक्त होते हैं (दे० § १८७)।

प्राचीन व्रज में भी *कौन्* तथा *को* सर्वाधिक प्रचलित रूप हैं और लगभग समस्त लेखकों द्वारा साथ साथ प्रयुक्त हुए हैं। पहले का प्रयोग स्वतंत्रतापूर्वक विकृत रूप की भाँति भी होता है (दे० § १८७)। अवधी *कौनु* (सेना० १५) तथा *कवन* (नन्द० ४-२२) बहुत कम मिलते हैं। *कौन* तथा *कोन* भी बहुत कम प्रयुक्त होते हैं और प्रायः गोकुलनाथ तक सीमित हैं : २०-१४, २४-२।

१८७. विकृत० एक० *का* पूर्व में अधिक प्रचलित है (ब० वदा० कभी कभी मैं० में तथा आ० में), किन्तु *कौन्* पश्चिम तथा दक्षिण में नियमित रूप है : *कौन् को छोरा है, रुपइया का पै है*। *कोन्* कुछ क्षेत्रों में मिलता है (इ० मैं०; कभी कभी धौ० क० में)। हिन्दी *किस्* पी० में तथा *कस्* बु० में मिलता है। कुछ पूर्वी सीमान्त ज़िलों में (फ० ह० का०) अवधी *केहि* व्यवहृत होता है। कभी कभी यह फ० में *कस्* की भाँति बोला जाता है।

विकृत० बहु० *किन्* साधारणतया पूर्व में प्रयुक्त होता है, किन्तु दक्षिण तथा पश्चिम के कुछ क्षेत्रों में भी यह पाया जाता है : *जे किन् के मकान् हैं*। मूल० एक० बहु० तथा विकृत० एक० के रूप में *कौन्* साधारणतया पश्चिम तथा दक्षिण में प्रयुक्त होता है (म० आ० अ० भ० ज० पू० क०)।

प्राचीन व्रज में परसर्गों सहित एक ही रूप विकृत रूप एक० तथा बहु० में प्रयुक्त होते हैं। विशेष विकृत० बहु० रूप *किन्* का प्रायः सर्वथा अभाव है। *का, कौन* विकृत रूपों में सब से अधिक प्रचलित रूप हैं; *कहौं कौन सों* (सूर० वि० ११), *का सौं कहौं* (विहारी० ६३)। अवधी रूप *केहि* (तुलसी० क० २-६; नरो० ५०) तथा *किहि* (पद्मा० ७-३०) बहुत कम मिलते हैं।

१८८. संयोगात्मक वैकल्पिक रूप निम्नलिखित हैं :

	आधुनिक	प्राचीन
एक०	*कौनैं काए*	*काहि, कौने* (करण कारक)
बहु०	*किनैं, कौनैं*	

ये वैकल्पिक रूप अधिकांश व्रज प्रदेश में मिलते हैं। एक० *काए* पूर्व में प्रचलित है (व० वदा० ए०, कभी कभी अली० में) तथा पश्चिम में *कौनैं* (म० आ० अ० भ० भी) *काए अथवा कौनैं दै रहे हौ*। हिन्दी *किसे* रूप के नई रूपान्तर विभिन्न ज़िलों में मिलते हैं : *किसै* (मैं० पी०) *कसै* (व०) *किसइ* (शा० इ० का०)। दक्षिण में (इ० तथा फ़० में भी) ये वैकल्पिक रूप नहीं मिलते हैं।

बहु० *किनैं* पूर्व में मिलता है (व० वदा० पी० इ० मैं०, बु० भी) : *किनैं दए रहे हौ*। कुछ ज़िलों में यह *किनें* (ए०), *किनइँ* (शा०) तथा *किन्हइ* (फ० ह० का०) की भाँति बोला जाता है। एक० में भी आने वाला रूप *कौनैं* पश्चिम (बु० को छोड़ कर) और भ० में प्रयुक्त होता है, जब कि दक्षिण में इस प्रकार के पृथक् संयोगात्मक बहुवचन रूप नहीं पाये जाते हैं।

प्राचीन व्रज में ये वैकल्पिक रूप अधिक प्रचलित नहीं हैं। *काहि* का प्रयोग अनेक लेखकों द्वारा हुआ है, जैसे *रावरे सुजस सम आज काहि गिनिए* (भू० ५०, देखिए दे० ३-५, दास ७-२५)।

कौने करण कारक के अर्थ में कहीं कहीं मिलता है, जैसे *कहि कौने सचुपायो* (हित० १)।

१८९. प्रश्नवाचक सर्वनाम *क-* के रूप समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में पाए जाते हैं। *को* मूलरूप व्रज, बुंदेली तथा पहाड़ी भाषाओं में ही मिलते हैं। पहाड़ी में भी

जौनसरी में *कूँएा* रूप व्यवहृत होता है। *कौन* के भिन्न भिन्न रूप शेष अन्य आधुनिक भाषाओं में हैं। पूर्वी भाषाओं में अवश्य *के* रूप विकसित हो गया है। *के* वैकल्पिक रूप से पूर्वी हिंदी बोलियों में भी मिलता है। उन बोलियों में पुराना रूप *कवन* भी सुरक्षित है। विकृत रूप एकवचन *का* व्रज की विशेषता है। मि० मध्य पहाड़ी *के*। अन्य आधुनिक भाषाएँ या तो मूल रूप का प्रयोग करती हैं या *किस्* और *केहि* सदृश रूपों का प्रयोग करती हैं। बहुवचन का रूप *किन्* मेवाती और खड़ी बोली में मिलता है; दे० बिहारी *किन्ह*, अवधी *केन्ह*, नैपाली *कुन*। संयोगात्मक वैकल्पिक रूप व्रज की विशेषता है।

अप्राणिवाचक

१९०. प्रश्नवाचक अप्राणिवाचक सर्वनाम के निम्नांकित मुख्य रूप हैं :

	आधुनिक	प्राचीन
मूल० एक० बहु०	*का कहा*	*का कहा*
विकृत० एक० बहु०	*काहे काए*	*काहे*

मूल रूप *कहा* नियमित रूप से पश्चिम में तथा पूर्व (व०, ए०) और दक्षिण (भ०, पू० ज०) के कुछ ज़िलों में पाया जाता है, जैसे *जो कहा है*? दक्षिण में (क०, धौल० प०, ग्वा०) में *का* अधिक प्रचलित है किन्तु यह पूर्व (इ०, फ०, शा०, पी०, ह०) में भी पाया जाता है। *कआ* उच्चारण मै० व० में पाया जाता है, जब कि *काहा* का० में पाया जाता है (दे० अवधी *काह*)

प्राचीन व्रज में *कहा* का प्रयोग सब से अधिक पाया जाता है, जैसे *मुख करि कहा कहौं*? (सूर० ५, २६) छन्द की आवश्यकता के कारण *कह* रूप है (जैसे नन्द० ३-८)। *का* का प्रयोग न्यून है (पद्मा० १४-६२)। अवधी रूप *काह* भी बहुत कम पाया जाता है (पद्मा० ७-३०)।

विकृत रूप *काहे* पश्चिम और दक्षिण तथा पूर्वी क्षेत्र के कुछ भागों में (व०, ह०, का०, ए०) सामान्य रूप से प्रयुक्त होता है, जैसे *टोपी काहे पै टँगी है*? पूर्वी क्षेत्र के शेष भाग में *ह* विहीन रूप *काए* प्रयुक्त होता है। (§ ११४)।

प्राचीन व्रज में भी *काहे* सर्वाधिक प्रचलित रूप है जैसे *माधव मोहिं काहे की लाज* (सूर० ५-३२)। गोकुलनाथ में यह साधारणतः *काहै* लिखा गया है (वार्त्ता० ४७-२)।

मूल रूप *का* हिंदी की पूर्वी बोलियों तथा भोजपुरी, मगही और जौनसरी में पाया जाता है, दे० मराठी *काय*, हिन्दी *क्या*। *कहा* व्रज तक ही सीमित है; दे० अवधी *काह*। विकृत रूप *काहे* हिंदी की पूर्वी बोलियों तथा बिहारी में भी पाया जाता है; दे० पहाड़ी *कै* अथवा *के*।

प्रश्नवाचक सर्वनाम के भिन्न भिन्न रूप सम्पूर्ण क्षेत्र में सर्वनाम मूलक विशेषण की भाँति भी प्रयुक्त होते हैं।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम

१९१. चेतन अथवा अचेतन वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होने के अनुसार अनिश्चय-

वाचक सर्वनाम के भी दो प्रकार के रूप पाए जाते हैं। ब्रज में चेतन पदार्थों के लिए प्रयुक्त मुख्य रूप निम्नलिखित हैं :

	आधुनिक	प्राचीन
मूल० एक० बहु०	*कोऊ कोई*	*कोऊ कोई*
विकृत० एक०	*काऊ*	*काहू*
विकृत० बहु०	*किनऊँ*	×

मूल० एक० बहु० रूप *कोई* मुख्य रूप से पूरब और दक्षिण तथा पश्चिम के कुछ जिलों (अ०, बु०, क०, कभी कभी म०, भ०, पू० ज०) में प्रयुक्त होता है, जैसे *कोई जात है।* *कोऊ* पश्चिम और दक्षिण (म०, आ०; भी०, पू०, ज०, धौ०, प०, ग्वा०) दोनों ही भागों में प्रचलित है।

प्राचीन ब्रज में *कोऊ* (हित० ७) रूप सर्वाधिक प्रचलित है। *कोई* (नन्द० ३-१९) उतना अधिक प्रचलित नहीं है। *कोउ* (रास० ४) *कोउ* (सूर० १५) और *कोइ* रूपान्तर छन्द की आवश्यकता के कारण कहीं कहीं कर दिए जाते हैं।

१९२. विकृतरूप एकवचन *काऊ* ब्रज क्षेत्र के बहुत बड़े भाग में प्रयुक्त होता है, जैसे *काऊ पै एक आम है*। मथुरा में एक वैकल्पिक रूप *केऊ* पाया जाता है। बुलंदशहर में *काई* है। फर्रुखाबाद में अवधी *केहू* मिलता है। अधिकांश पूर्वी सीमा के जिलों (शा०, पी०, ह०, का०) में खड़ीबोली हिंदी का संशोधित रूप *किसऊ* प्रचलित है।

विकृत रूप *काहू* परसर्गों सहित प्राचीन ब्रज में प्रयुक्त होता है, जैसे *काहू के कुल नाहिं विचारत* (सूर० वि० ११)। कभी कभी बिना किसी परसर्ग के भी इस सर्वनाम का प्रयोग होता है, जैसे *अरु काहू चढ़ायो ना* (केशव ३-३४)। *काहू* रूप छन्द की आवश्यकता के कारण हो जाता है, जैसे हित० २३।

विकृत बहु० *किनऊँ* रूप लगभग समस्त ब्रज क्षेत्र में पाया जाता है, जैसे *किनऊँ पै आम हैं*। खड़ीबोली हिन्दी का परिवर्तित रूप *किन्हऊ* (शा०) और अवधी *कौनौ* (पू० का०) सीमान्त ज़िलों तक ही सीमित हैं।

प्राचीन ब्रज में कोई पृथक् विकृत बहुवचन का रूप नहीं पाया जाता।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम *कोई* उत्तरी, पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भाषाओं में पाया जाता है। *कोऊ* रूप ब्रज और बुन्देली तक सीमित है। पूर्वी भाषाओं में प्रायः *केऊ* रूप मिलता है।

१९३. अचेतन पदार्थों के लिए प्रयुक्त अनिश्चय वाचकसर्वनाम *कछु* अथवा *कछू* रूप लगभग समस्त क्षेत्र में प्रयुक्त होता है, जैसे *कछु* (*कछू*) *लै आवो*। महाप्राणत्व के लोप होने के कारण मैनपुरी में *कछु* का बहुधा *कचु* की भाँति उच्चारण किया जाता है, करौली में *कछुक* हो जाता है। खड़ीबोली और अवधी रूप *कुछ* के अनेक रूपान्तर सीमान्त जिलों में प्रयुक्त होते हैं, जैसे *कछ* (बु०), *कुछू* (फ०), *कुछु* (ह०, का०)। सीधे *कुछ* रूप का प्रयोग विशेष रूप से बदायूँ, बरेली तथा पीलीभीत में मिलता है।

प्राचीन ब्रज में *कछू* सर्वाधिक प्रचलित रूप है (नन्द० १-३१), *कछु* रूप छन्द की आवश्यकता के कारण है (दास २०-३५)। *कछुक* बहुत कम पाया जाता है, जैसे *हित हरिवंश कछुक जसु गावै* (हित० १७)।

कछु अथवा *कछू* रूप बुंदेली और भोजपुरी में पाये जाते हैं। *कुछ* रूप खड़ीबोली हिंदी की पूर्वी बोलियों, मगही, पंजाबी, और लहँदा में पाया जाता है। दूसरी अधिकांश आधुनिक भाषाओं मे *किछु* रूप मिलता है। राजस्थानी में एक विभिन्न रूप *काईं* पाया जाता है।

१९४. निम्नलिखित कुछ शब्द ब्रज में अनिश्चयवाचक सर्वनाम की भाँति प्रयुक्त होते हैं :

	आधुनिक	प्राचीन
मूल० एक० बहु०	*और सब सबरे सगरे सिगरे*	*एक और सब*
,, ,, ,, स्त्री०	*सबरी सगरी सिगरी*	
विकृत० बहु०	*औरन सबन सबरिन*	*एकन औरन*
	सगरिन सिगरिन	*सबन*

और तथा विकृत रूप बहु० *औरन* का प्रयोग सम्पूर्ण क्षेत्र में होता है, जैसे *एक आम हियाँ है और कहाँ गओ* अथवा *और कहाँ गए।*

सब विकृत रूप बहु० *सबन* का प्रयोग साधारणतया पूर्व में होता है। जैसे, *सब गए, सबन की जा राए है।*

पश्चिम और दक्षिण में मूल रूप पु० *सबरे, सगरे,* स्त्री० *सबरी, सगरी* तथा विकृत *सबरिन, सगरिन* साधारणतः प्रयुक्त होते हैं। पूर्वी सीमान्त प्रदेशों में *सगर, सगरिन* का उच्चारण प्रायः *सिगरे, सिगरिन* होता है।

एक तथा *और* के अनेक रूप अनिश्चयवाचक सर्वनाम की भाँति प्राचीन ब्रज में पाए जाते हैं, जैसे *एक कहैं अवतार मनोज को* (शिव० ७१)। *यक* (नाभा० ३४) रूप छन्द की आवश्यकता के कारण है, जब कि *एकै* (दास २-१०) रूप बल देने के लिए है। *एकनि* विकृत रूप बहुवचन है, जैसे *एकनि कों जस ही सों प्रयोजन* (दास० २-१०)। *और* का प्रयोग बहुत कम पाया जाता है, जैसे *जीभ कछू जिय और* (पद्मा० १३-५७)। *और* का विकृत रूप बहुवचन *औरन* है, जैसे *औरन को कलु गो* (कविता० ४-१)। प्राचीन ब्रज में *सब* रूप बहुत मिलता है जैसे *कान्ह मोहत सब को मन* (नन्द० १-४४)। *सबु* रूप कुछ ही स्थलों में मिलता है (वि० ४१)। *सब* का विकृत रूप बहुवचन *सबन* है। कुछ स्थलों पर *सबनि* रूप करण कारक में परसर्ग के बिना प्रयुक्त होता है, जैसे *सबनि अपनपौ पायो* (सू० वि० १७)। *सबै* (सूर० य० १०) और *सबहिन* (नन्द० १-५९) रूप बल देने में प्रयुक्त होते है।

१९५. अनिश्चयवाचक सर्वनाम के भिन्न भिन्न रूप विशेषण के समान भी प्रयुक्त होते हैं : *कोई आदमी आओ; कछु तरकारी मो कौ दै देओ; सब जने जांगे।*

निजवाचक तथा आदरवाचक सर्वनाम

१९६. आधुनिक ब्रज में *आप अपना* रूप निजवाचक सर्वनाम के समान सम्पूर्ण ब्रज क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं, जैसे *आप* अथवा *अपना तौ चल नायँ पाउत।*

आप का बहुवचन की क्रिया के साथ आदरवाचक प्रयोग बहुत ही कम होता है। यह प्रायः नगर की शिष्ट जनता तक ही सीमित है।

इस सर्वनाम से निम्नलिखित संबंधवाचक विशेषण बने हैं : पु० एक० *अपनो*, पु० बहु० *अपने*, स्त्री० *अपनी* : *अपनो काम आप करनो चइयै; अपने बैल काँ हैं ? अपनी रोटी काँ हैं ?*

प्राचीन ब्रज में निजवाचक सर्वनाम तथा विशेषण के समान नीचे लिखे रूप प्रयुक्त होते हैं :

सर्वनाम : *आप आपु*

विशेषण : *आपनो आपने आपनी; अपनो अपने, अपनी*

इनमें से कुछ के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

आप, जैसे *आप खाय तो सहिये* (सूर० म० ८)

आपु, जैसे *आपु भई बेपाइ* (बिहारी ४४)

आपने, जैसे *देखौ महरि आपने सुत को* (सूर० म० २)

आपने मन में बिचारे (गोकुल० ७-१)

आपनी, जैसे *जहाँ बसे पति नहीं आपनी* (सूर० म० ९)

अपनो, जैसे *अपनो गाँव लेहु नँदरानी* (सूर० म० ८)

गोकुलनाथ में *अपनों* तथा *अपनौ* रूप भी पाया जाता है (गो० १०,१४; २२,१५)

अपने, जैसे *अपने घर को जाउ* (नन्द १-९२) *अपने सेवक सों कह्यउ* (बिहा० २);

अपनी जैसे *तजी जाति अपनी* (सूर० वि० १६, दे० नन्द० ५-३२, गोकुल १०५)

अवधी *आपन* रूप केवल तुलसी द्वारा ही प्रयुक्त हुआ है, जैसे *फल लोचन आपन तौ लहिहैं* (तु० क० २-२३)

अपनो आप जैसे *अपनो आप कर लेउँगो* (गोकुल ३२-१५)

निज जैसे *जो लक्ष्मी निज रूप रहत चरनन सेवत नित* (नन्द १-२७)

परस्पर जैसे *मंद परस्पर हँसी* (नन्द १-९१)

प्राचीन ब्रज में *आप* तथा *आपु* के अतिरिक्त आदरवाचक सर्वनामूलक विशेषण *रावरो, रावरे, राउरे, रावरी*, जिनकी उत्पत्ति भोजपुरी से है (दे० भोज० *रउवाँ, रउरा*), बाद के लेखकों द्वारा प्रयुक्त पाए जाते हैं। सम्भवतः यह रूप ब्रज में अवधी से तुलसीदास जैसे लेखकों द्वारा आए।

इनमें से कुछ मुख्य रूपों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

आप, जैसे *आप....मति बोलौ* (गोकुल० २२, १५)

आपु जैसे *आपु लगावात और* (सूर० म० ९, दे० तुलसी क० १-१९, सेना० १९)

अवधी *आपुन* का व्यवहार कम पाया जाता है, जैसे *धनि सु जु आपुन लहिये* (केशव २-१४)

रावरो जैसे *रावरो सुभाव* (तु० क० २-४; दे० देव० ३-२५, घन० १)

रावरे जैसे *रावरे सों साँची कहौ* (तु० क० २-८; दे० क० २१-१, सेना० ३०, १६, बिहारी १८५, भू० ५०, घना० ११)

रावरी, जैसे *रावरी पिनाक मै सरीकता कहाँ रही* (तु० क० १-१९, दे० मति० १०३, घना० १६)

मै उमिरि दराज राज रावरी चहत हौ (पद्मा० २-६)

राउरे, जैसे *राउरे रंग रंगी अँखियान में* (पद्मा० १३-५६)

भोजपुरी तथा उत्तरी पश्चिमी भाषाओ को छोडकर निजवाचक तथा आदरवाचक सर्वनाम का *आप* रूप आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ मे प्रचलित है। भोजपुरी मे आदरवाचक के लिए *रउरा* रूप प्रयुक्त होता है। उत्तरी पश्चिमी बोलियो मे या तो आदरवाचक रूप प्रयुक्त ही नही होते अथवा भिन्न रूपो मे प्रयुक्त होते है।

संयुक्त सर्वनाम

आधुनिक व्रज मे सयुक्त सर्वनाम वहुत अधिक प्रचलित है। सवधवाचक सर्वनाम के विभिन्न रूप *कोई* तथा *कोऊ* के अनेक रूपो से सयुक्त कर के प्रयुक्त होते है जैसे, *जो कोई काम करै वो आए जाए* अथवा *जिन किनउँ पै पैसा होयँ वे लावै।*

सब रूप *कोई* तथा *कोऊ* के विभिन्न रूपो के साथ सयुक्त हो कर प्रयुक्त होता है, जैसे *सब कोई खेलन कौ जात हैं; सब काऊ पै तौ पैसा है नायँ; मेरे पास सब कछु है।*

सब पुरुषवाचक सर्वनामो के साथ भी सयुक्त होता है, जैसे *तुम सब कौं गए हे?*

और रूप *कोई* तथा *कोऊ* रूपो अथवा *सब* रूप के साथ सयुक्त होता है, जैसे *और कोई आओ, और कछु है, और सबन कौ* दै देओ।

प्राचीन व्रज मे सबंधवाचक तथा अनिश्चयवाचक सर्वनामो के सयुक्त रूप व्यवहृत हुए है। संयुक्त सर्वनामो का व्यवहार प्राचीन व्रजभाषा मे वहुत कम मिलता है। उदाहरण *जेते कछु अपराध* (सूर० वि० ७), *सब किनहूँ* (नन्द० १-५८)।

सर्वनाममूलक विशेषण

१९८. दूरवर्त्ती तथा निकटवर्त्ती निश्चयवाचक, संबंधवाचक, नित्यसंबंधी तथा प्रश्नवाचक सर्वनामो के आधार पर विशेषण भी वनाये जाते है। ये प्रकारवाचक, परिमाणवाचक तथा संख्यावाचक होते है। सर्वनाममूलक विशेषणो के कुछ उदाहरणों के लिए देखिए §§ १६१, १६७, १६८, १७४, १८३; १८६-१९१, १९५, १९६।

प्रकारवाचक विशेषण

आधुनिक व्रज में निम्नलिखित रूप प्रचलित हैं:

ऐसो, वैसो, जैसो . . . . . .तैसो, कैसो

पश्चिमी क्षेत्र में समस्त रूपों में अन्तिम *ओ औ* हो जाता है (§ ९३)। पूर्वी ज़िलों में *वैसो* के लिए कभी कभी *उइसो* भी प्रयुक्त होता है।

प्राचीन व्रज में अधिक प्रचलित रूप नीचे दिए जाते हैं : *ऐसे हाल मेरे घर में कीन्हें* (सूर० म० ५), *ऐसी सभा* (भू० १५), *ऐसो ऊँचो* (भू० ५९), *ऐसे कृपा पात्र* (गो० ५-१६), *ऐसो पण्डित* (लल्लू० ६-९), *तैसो फल* (लल्लू० १४-१६); *कैसे चरित्र किये हरी अबहीं* (सूर म० ३), *कैसो धर्म* (नन्द १-१०२),

परिमाणवाचक विशेषण

आधुनिक : *इत्तो, उत्तो, जित्तो-तित्तो, कित्तो*

पश्चिमी क्षेत्र में *एतो, ओतो, जेतो-तेतो, केतो* रूप साधारणतः प्रयुक्त होते हैं।

प्राचीन व्रज में परिमाण वाचक विशेषण बहुत कम प्रयुक्त होते हैं,

इती चतुराई (सू० म० ११), *इती छवि* (भू० ४०)

विथा केती-यो (सेना० २-९)।

संख्यावाचक विशेषण

आधुनिक : *इत्ते, उत्ते; जित्ते, तित्ते; कित्ते*

पश्चिमी क्षेत्र में *एते, ओते* अथवा *वेते, जेते-तेते, कैते* रूप साधारणतः प्रचलित हैं।

आगरा तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में *इतेक, वितेक, जितेक, उतेक* (भ०), *कितेक* (क०) रूप पाए जाते हैं।

प्राचीन : *एते कोटि* (सू० वि० ७), *एते हाथी* (भू० १०), *एती बातैं* (सेना० २-२१), *एते परपंच* (सेना० २-३०); *विरुधी तन जेते* (नन्द० १-२४); *जेतिक द्रुम जात* (नन्द० १-३१); *जेते* (भू० १०); *जितेक बातैं* (लल्लू०) *तेते* (नन्द० १-२४), *कैउक वचन कहे नरम* (नन्द० १-८९); *केउक* (भू० ५०); *केती बातैं* (भू० ५०)।

८. परसर्ग

१९९. कर्त्ता को छोड़ कर अन्य कारकों के अर्थों को संज्ञा तथा संज्ञा, संज्ञा तथा विशेषण और संज्ञा तथा क्रिया के बीच परसर्ग की सहायता के द्वारा प्रकट किया जाता है। संज्ञा अथवा सर्वनाम के विकृत रूपों अथवा विकृत रूप न होने पर उनके मूल रूपों से संयुक्त किए जाने पर परसर्ग इन अनेक सम्बन्धों के द्योतक होते हैं।

व्रजभाषा में निम्नलिखित मुख्य परसर्ग प्रयुक्त होते हैं :

आधुनिक	प्राचीन
कौ, कौं; कूँ कू	को, कों; कौ, कौं; कूँ, कुँ
मैं	में, मैं
पै	पै पर
नैं	ने, नै, नें
सै, सैं, से, सूँ	सों, सौं
तै, तैं, ते	तें, ते

२००. आधुनिक व्रज में कौ रूप साधारणतः पूर्वी जिलों त०, वदा०, इ०, फर्रु०, पी० में अधिक तथा मैं०, ए० में कुछ कम तथा पश्चिमी जिलों (म०, आ०, वु०) में कम प्रयुक्त होता है, जैसे *वो गाँव कौ जात है, वौ लौंड़ा कौ आम देत है।* शाहजहाँपुर में कौ के स्थान पर कउ उच्चारण होता है (§ ९७)। कौं, जिसे प्रधान रूप माना जा सकता है, पश्चिम (म०, आ०; प०, ग्वा०, मैं०) में प्रयुक्त होता है। कूँ साधारणतया दक्षिण (भ०, पू० ज०, क०, धौ०, अ०) में तथा कभी कभी पश्चिम (म०, आ० वु०) में प्रयुक्त होता है (दे० पंजाबी, ल०, सम्प्रदान नूँ, राजस्थानी अपादान सूँ) हिन्दी को के सादृश्य पर ही सम्भवतः निरनुनासिक कू रूप है, जिसका प्रयोग उत्तरी सीमा के ज़िले वुलन्दशहर तक ही सीमित है, किन्तु कभी कभी पश्चिम तथा दक्षिण (क०, म०, आ०) में भी पाया जाता है।

अवधी रूप *का* पूर्वी सीमा के कुछ ज़िलों (ह०, का०) तक सीमित है। कभी कभी पू० शाहजहाँपुर में एक दूसरा अवधी रूप *कइहाँ* पाया जाता है।

दक्षिण के कुछ जिलों में कुछ अन्य रूप प्रचलित है, जैसे *काए* (धौ०), दे० अवधी *का कइहाँ; केनी* (पू० ज०), दे० राज० *कनइ* सि० काव्य *कने*, कुमा० *कणि*, गढ़० सनि। नैं रूप भी मिलता है जो वास्तव में राजस्थानी है। लूँ (भ०) रूप केवल पुरुषवाचक सर्वनामों के साथ पाया जाता है, जैसे *हम लूँ, तो लूँ*। यह रूप *न* रूप ही मालूम पड़ता है जिसमें *न-ल-* में परिवर्तित हो गया है (§ १०६), दे० बुंदेली *लाने*, मराठी *ला*, नेपाली *लाइ*। बुलन्दशहर से लिए गए एक गूजर की बोली के नमूने में *नें* पाया

जाता है, जैसे *लत्तान नें देही तै अलग कर्तो रयो*। यह कोई असाधारण बात नहीं है, क्योंकि नइ पड़ोस की मेवाती, तथा गूजरों से बसे हुए बाँगरू क्षेत्र में प्रयुक्त होता है, और गुर्जरी में *न* के रूप में अब तक पाया जाता है। -एं, अनुनासिकता हिन्दी के करण कारक के रूप *नें* के प्रभाव के कारण हो सकती है।

प्राचीन ब्रज में *को* सर्वाधिक प्रचलित रूप है, जब कि *कौं* रूप भी कम प्रचलित नहीं है, जैसे *मुख निरखत शशि गयो अंबर को* (सू० य० ६), *भजौ ब्रजनाथ कौं* (हित० ६) यह ध्यान देने योग्य है कि ब्रज क्षेत्र में आजकल *को* और *कों* रूप प्रधान रूप से प्रचलित नहीं हैं।

लल्लू लाल ने अपनी ब्रजभाषा की रचनाओं में बराबर *कौं* का प्रयोग किया है। साधारण पश्च अर्द्ध-विवृत स्वर जिसका उच्चारण ब्रज में होता है (§ ९३) देवनागरी लिपि में नहीं पाया जाता। अतः यह या तो *ओ* अथवा *औ* लिपि चिह्न के द्वारा प्रकट किया जाता है। इसलिए लेखकों का पहले मूल स्वर *ओ* का चुनना अधिक स्वाभाविक है। दूसरा रूप *औ* स्पष्ट संयुक्त स्वर है। सम्भव है *ओ* रूप के चुनाव पर खड़ी बोली के *को* का कुछ प्रभाव हो। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से *कौ* तथा *को* में बाद वाला रूप प्राचीन नहीं कहा जा सकता।

कौ (लल्लू० १०-८) और *कौं* (लल्लू० ३-२) रूप प्राचीन ब्रज में अधिक प्रचलित नहीं हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है ये रूप आधुनिक ब्रज में साधारणतया प्रयुक्त होते हैं। *कूँ* और *कुँ* (गोकुल ५१-८) प्राचीन ब्रज में बहुत कम प्रचलित हैं। *कूँ* २५२ वार्ता में सर्वत्र पाया जाता है, किंतु यह ग्रंथ गोकुलनाथ की रचना नहीं जान पड़ती (§ ४६)। अवधी रूप *कहँ* कुछ लेखकों की कृतियों में कहीं कहीं पाया जाता है, जैसे *फल पतितन कँह ऊरध फलन्त* (केशव० १-२६; दे०, भूषण० २)।

हिन्दी की अधिकांश बोलियों के समान ही ब्रजभाषा में भी परसर्ग *क*- पाया जाता है। बाँगरू में *न*- रूप पाया जाता है, जो पंजाबी, राजस्थानी के समान है। नैपाली को छोड़ कर, जिसमें *ल* रूप है, शेष समस्त पहाड़ी बोलियों में तथा पूर्वी भाषाओं में भी *क*- रूप है। पूर्वी, राजस्थानी और सिंधी में यह एक वैकल्पिक रूप की भाँति प्रचलित है।

२०१. आधुनिक ब्रज में *मैं* तथा *पै* बिना किसी रूपान्तर के समस्त ब्रज क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं, जैसे, *सिन्दूक मैं कपड़ा धरे हैं, सिन्दूक पै लोटा धरो है*। पूर्वी सीमान्त जिलों (मा०, ह०, का०) में अवधी रूप *माँ* तथा *मा* साधारण रूप से प्रचलित हैं, जैसे *अम्मा का खेत माँ बैटार आए*।

प्राचीन ब्रज में संयोगात्मक रूप (§ १५४) स्वतन्त्रता से प्रयुक्त होते हैं, किन्तु उनके साथ ही साथ परसर्गों का प्रयोग भी पर्याप्त प्रचलित है। ऐसे रूपों में खड़ीबोली हिन्दी का *में* रूप सर्वाधिक प्रचलित है। इससे कुछ ही कम *मैं* रूप प्रचलित है, जैसे *ब्रज मैं* (सू० स० १), *सरित मैं* (भूषण १)। *मे* (दे० २-०) और *मैं* (सेना० ५) रूप बहुत कम पाए जाते हैं। ये रूप पोथी लेखक अथवा प्रूफ देखने वाले की असावधानी के कारण हो सकते हैं। प्राचीनता के द्योतक निम्नलिखित रूप कभी कभी प्रयुक्त हुए हैं, *माहिँ*

(मति० ३८), *माहि* (भू० ९), *माँहिं* (लल्लू० १-१६), *माहीं* (नन्द० ३-१७)। अन्तिम रूप छन्द की आवश्यकता के कारण है। निम्नलिखित रूपों में हम अवधी (अवधी *महँ, मों*; दे० भोज० *मों*) का प्रभाव पाते हैं: *माँह* (विहारी १०२), *माह* (दे० १-१४), *मँह* (केशव १-७), *मों* (नरो० ९, तुलसी० क० १-२), *माँझ* (नन्द० १-८३), मति० ७२), *मँझारन* (रस० १, दे० प्राचीन अवधी *मँझिआरा*) तत्सम अथवा अर्द्ध तत्सम रूप *मधि* (भू० १५) और *मध्य* (लल्लू० २-१) कहीं कहीं पाए जाते हैं।

पै तथा *पर* रूपों का प्रयोग भी पर्याप्त मिलता है, जैसे *आनन पै* (नाभा० ५०), *रूप पर* (सूर० य० ९)। *पैं* (घना० ९) तथा *ऊपर* (हित० ७) रूपान्तर बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं। *पैं* रूप की अनुनासिकता कदाचित् *मैं* तथा अन्य परसर्गों के रूपों के सादृश्य पर है। *पैं* का प्रयोग २५२ वार्ता (अष्टछाप ९४, १४) तक ही सीमित है।

परसर्गों के *म-* तथा *प-* रूप पूर्वी भाषाओं (बंगा०, आसा०, उड़ि०) को छोड़कर, जिनमें संयोगात्मक रूपों का प्रयोग होता है, प्रायः समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पाए जाते हैं। उत्तरी-पश्चिमी भाषाओं (पंजा०, लंह०) में एक विभिन्न प्रकार का परसर्ग (*विच, इच*) प्रयुक्त होता है, दे० हिंदी *वीच*।

२०२. परसर्ग *नैं* केवल भूतकाल में सकर्मक धातु के कर्त्ता के पश्चात् ही प्रयुक्त होता है। *नैं* रूप सम्पूर्ण क्षेत्र में प्रयुक्त होता है, जैसे *वा नैं रोटी खाई।* बुलन्दशहर में स्वर की अनुनासिकता स्पष्ट न होने के कारण *नै* रूप है (§ ७०)। खड़ीबोली *ने* का उच्चारण भी विशेषतया कुछ पूर्वी ज़िलों (फ०, शाह०) में सुना जाता है।

पड़ोस की अवधी बोली की भाँति, यह परसर्ग पूर्वी सीमा के कुछ ज़िलों (हर०, कान०) में बहुत कम प्रयुक्त होता है, जैसे *कुत्ता टाँग नोचि लई* (हर०)।

ऐसे उदाहरण जिनमें सामान्यतः इस परसर्ग का प्रयोग होना चाहिए था किन्तु किया नहीं गया, कहीं कहीं दूसरे क्षेत्रों में भी देखे गए हैं, जैसे *बिन आदमिन कही* (धौ०), *गौर उतै सै और दबदवा दओ* (फ०) *न्योरा कई* (इ०) *मुंसी दस रुपया दै दिए* (बु०) *हम कई औ तू न मानी* (धौ०)।

दूसरी ओर, विशेषतया कुछ पूर्वी ज़िलों (मै०, इ०, ए०) के कतिपय उदाहरणों में। साधारण प्रयोग के विपरीत *नैं* का प्रयोग मिलता है, जैसे *हंस औ हंसिनी नैं उड़ दओ* (मै०), *किसान नैं हर ठाड़ो करि कै भजो* (ए०), *सो उननैं चल दओ* (इ०), *न्यौरा नै गधइया पै वैठ लओ* (इ०)। उपर्युक्त गड़बड़ी परसर्ग सहित तथा परसर्ग रहित दोनों प्रकार की रचनाओं का एक दूसरे पर प्रभाव लक्षित करती है।

प्राचीन ब्रज में करण कारक का भाव संज्ञा अथवा सर्वनाम के मूल अथवा विकृत रूप के साथ विना किसी परसर्ग के प्रयोग द्वारा व्यक्त किया जाता था (§ १५३)। *ने* के अनेक रूपों का प्रयोग प्राचीनतम कृतियों (१६ वीं शती) तक में पाया जाता है, यद्यपि यह अधिक प्रचलित नहीं रहा।

ऐसे रूपों में हिन्दी रूप *ने* सर्वाधिक प्रचलित रूप है, जैसे *महाप्रभून ने* (गोकुल० २-१२)। *नै* रूप कहीं कहीं प्रयुक्त हुआ है, जैसे *तिनके घर वास दरिद्र नै कीनो* (न०

१५)। कदाचित् *में* आदि जैसे अन्य रूपों के सादृश्य के कारण अनुनासिक रूप *नें* भी साथ ही साथ बराबर पाया जाता है, जैसे *राजा नें कह्यौ* (लल्लू० ६-८)। *नें* व्रज का विशुद्ध रूप माना जा सकता है।

हिन्दी की समस्त पश्चिमी बोलियों में पाया जाने वाला यह परसर्ग व्रज में भी मिलता है। यह मराठी, गढ़वाली, गुर्जरी तथा पंजाबी में भी पाया जाता है। पंजाबी में अब बहुधा इसका प्रयोग कम किया जाने लगा है। वैकल्पिक रूप में इस परसर्ग का प्रयोग राजस्थानी की मेवाड़ी तथा मालवी बोलियों में होता है, जिनमें इसका अर्थ 'लिए' के समान भी होता है। पूर्वी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इस परसर्ग का प्रयोग बिल्कुल ही नहीं होता। नैपाली और कुमाँयुनी बोलियां *ल-* रूपों का प्रयोग 'द्वारा' तथा 'लिए' अर्थों में करती हैं।

२०३. परसर्गों के अनेक रूप 'द्वारा', 'साथ' अथवा 'से' आदि का भाव प्रकट करने के लिए निम्नलिखित प्रकार से प्रयुक्त होते हैं। *सै* साधारणतया पूर्वी क्षेत्र में (ब०, ए०, ब०, पी०, इ०, कभी कभी मै०, फ०, तथा भर० में भी) प्रयुक्त होता है, जैसे **बौ चक्कू सै आम काटत है, बौ छत्त सै गिर पड़ो**। आगरा और पूर्वी जयपुर में कभी कभी अनुनासिक रूप *सैं* (§ ९५) पाया जाता है। खड़ीबोली हिन्दी की भाँति अवधी उच्चारण *से* पूर्वी सीमा के ज़िलों (फ०, शा०, ह०, का०) तक ही सीमित है। राजस्थानी रूप *सूँ* साधारणतया करौली में तथा कभी कभी कुछ पश्चिमी ज़िलों (म०, आ०, बु०) में प्रयुक्त होता है। निरनुनासिक उच्चारण *सू* बुलन्दशहर में ही पाया जाता है।

तै (तुलनार्थ पंजा० *तै*) रूप पश्चिमी क्षेत्र (म०, आ०, भ०; मै० भी) में साधारणतया प्रचलित है। इसका प्रयोग कभी कभी पू० ज०, धौ०, बु० तथा बदा० में भी होता है। इसका उच्चारण *तैं* (बु०, धौ०, बदा०) और *ते* (साधारण रूप से अ०, पू० जय०, धौ०, ग्वा० में तथा कभी कभी आ०, भ०, बु०, इ०, ह०) की भाँति भी होता है। धौलपुर से लिए गए एक उदाहरण में *तनैं* (तुलनार्थ अव० *सेनी*) पाया गया है, जैसे *पीछे तनैं जवाब दयो है*। अवधी रूप *सेती* तथा *सन* कभी कभी पूर्वी सीमा के ज़िलों (का०, पू० ह०) में पाए जाते हैं।

प्राचीन व्रज में इस प्रकार के अनेक उदाहरण पाए जाते हैं जिनमें 'द्वारा', 'साथ' अथवा 'से' का भाव व्यक्त करने के लिए संयोगात्मक रूपों का प्रयोग हुआ है (§ १५४), फिर भी परसर्गों का प्रयोग अधिक पाया जाता है। सब से अधिक पाया जाने वाला रूप *सों* है, *सौं* रूप कम पाया जाता है, जैसे *सोवत लरिकन छिरकि मही सों* (सू० म०), *सब सौं हित* (हित० १७)। यह बात ध्यान देने योग्य है कि राजस्थानी *सूँ* से मेल खाते हुए भी ये रूप आधुनिक व्रज क्षेत्र में प्रयुक्त नहीं होते। व्रज क्षेत्र में *सै* का प्रयोग आधुनिक काल में अधिक बढ़ रहा है, यह कदाचित् विशुद्ध हिन्दी रूप *से* के प्रभाव के कारण है। निम्नलिखित *स-* रूप बहुत कम पाए जाते हैं : *सौ* (रस० ९), *सो* (सेना० १८), छन्द की आवश्यकता के कारण ह्रस्व रूप *सुँ* (नन्द० १-३०), *से* (नन्द० १-२४), *सैं* (नन्द० १-३३)।

दूसरे अत्यधिक प्रचलित रूप *तें* तथा *ते* हैं, जैसे *तातें* (हित० ५) *दिन द्वैक ते* (पद्मा० ८-३५)। *तैं* (विहा० ३, मति० २६) तथा *तै* रूप कम प्रचलित हैं।

स- परसर्ग के रूप पश्चिमी खडीबोली को छोड़ कर हिन्दी की समस्त वोलियो में तथा राजस्थानी और विहारी में प्रचलित हैं। *त*- रूप पश्चिमी खडी वोली, पंजा०, लहँ०, गढ० तथा गुर्ज० मे पाए जाते हैं। इस प्रकार ब्रज की स्थिति अन्तर्वर्त्ती है, जिसमे दोनो रूपो का प्रयोग वरावर होता है। दोनों ही प्रकार के रूपों का साथ साथ प्रयोग सिंधी, मेवा० तथा भोजपुरी और हिंदी की पूर्वी वोलियों मे (जो साधारणतया दोनो के प्रभाव मे आई हैं) मिलता है। यह असाधारण है कि *त*- रूप खडीवोली क्षेत्र मे प्रचलित नही हुआ।

२०४. ब्रज मे परसर्ग *को* संज्ञा तथा सर्वनाम के साथ, जिसके वाद ही यह प्रयुक्त होता है, विशेषण हो जाता है तथा विशेषता प्रकट करने वाली संज्ञा के अनुसार ही उसमे लिग तथा कारक वदल जाते हैं। अतएव पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग के लिए उसमे विभिन्न रूप हैं। दोनों लिंगों के लिए एक उभय विकृत रूप भी है। इसके निम्न-लिखित मुख्य रूपान्तर है :

पुल्लि० मूलरूप एक० *को, कौ; कों* (अन्तिम रूप केवल प्राचीन ब्रज में)

पुल्लि० मूल० वहु० तथा

विकृत० एक० वहु० *के, कै; कैं* (अतिम रूप केवल प्राचीन ब्रज मे)

स्त्री० मूल० विकृत एक० वहु० *की*

आधुनिक ब्रज में पुल्लिग मूल० रूप एक० *को* साधारण रूप से पूर्व तथा दक्षिण मे प्रयुक्त होता है तथा पश्चिम (म० बु०) मे कम प्रयुक्त होता है, जैसे *जा वैअरवानी को दूलौ काँ है।* पश्चिम में साधारण रूप *कौ* है, (§ ९३) जो कभी कभी दक्षिण (क० प० ग्वा०) के कुछ भागो मे पाया जाता है। अतः यह विशुद्ध ब्रज रूप कहा जा सकता है। पूर्वी सीमा के कुछ जिलो (इ० का०) मे अवधी रूप *का क* भी *को* के साथ ही साथ प्रयुक्त होते हैं।

पुल्लि० मूलरूप वहु० तथा विकृत रूप एक० वहु० *के* प्रायः सम्पूर्ण क्षेत्र मे प्रयुक्त होता है। पश्चिमी जिलों में इसका उच्चारण *कै* (§ ९३) के समान होता है। जैसे *इन पेड़न के फल कैसे होत हैं, अन्नू के वेटा सै रैहलू लै आवौ, जा वाग के पेड़न पै फूल आये हैं।*

स्त्री०, मूल०, विकृत० एक०, वहु० *की* के सम्पूर्ण ब्रज क्षेत्र मे कोई रूपान्तर नही होते, जैसे *चमेली की अम्मा काँ गई? उनकी सव लौंड़ियन को व्याह हुइ गओ।*

सामान्य रूप मे प्रयुक्त होते हुए भी कुछ उदाहरणों मे इस परसर्ग का प्रयोग नही होता, जैसे *ठगन नगरिया पड़ैगी* (वा०) *समुन्दर वा पार जादू नईं चल्त है* (धौ०)।

प्राचीन ब्रज मे भी मूलरूप एक०, पुल्लि० के लिए *को* तथा कभी कभी *कौ* पाया जाता है, जैसे *सत्य भजन भगवान को* (नरो० ८), *भूप नाह कौ वंश* (लाल० २-११)।

कौं रूप अपेक्षाकृत कम व्यवहृत होता है (गोकुल ६-३, देव० १-३)। *का* भी दो एक स्थलों पर मिलता है (लल्लू० १-४) किन्तु यह स्पष्टतया खड़ी बोली के प्रभाव के कारण है।

के समस्त रूपों में सर्वाधिक प्रचलित रूप है। इससे कुछ ही कम प्रयुक्त होने वाला *कै* है, किन्तु *कें* (मति० ४४) तथा *कैं* (विहा० २५) बहुत कम पाए जाते हैं, जैसे *बासन घर के* (सू० म० ५); *ता कै भयो* (लाल० ३-२)।

की के कोई रूपान्तर नहीं होते, जैसे *बात कहौं तेरे ढोटा की* (सूर० म० ४)।

छन्द की आवश्यकता के कारण कभी कभी *की कि* में परिवर्तित हो जाता है। (हित० २३, भूषण २५ में *की* मिलता है किन्तु यह छन्द के कारण उच्चारण में ह्रस्व है)।

यह उल्लेखनीय है कि लल्लूलाल ने अपने ब्रजभाषा व्याकरण में इस परसर्ग के *कौ, के* तथा *की* रूप दिए हैं।

विशेषण का अर्थ देने वाले परसर्ग *क-* के रूप हिन्दी की समस्त बोलियों में पाए जाते हैं साथ ही बिहारी, पू० राजस्थानी, पहाड़ी तथा गुर्जरी में भी मिलते हैं।

संयुक्त परसर्ग

२०५. *में* तथा *पै* का *सै* रूप से संयोग सम्पूर्ण ब्रज क्षेत्र में सामान्य रूप से प्रचलित है, जैसे *वौ सिन्दूक में सै रुपइआ निकारत है; वौ घोड़ा पै से गिर पड़ो*। *कै* तथा *नै* का संयोग कम मिलता है, जैसे *बनिए कै नै कई* (आ०)।

'लिए' का भाव व्यक्त करने के लिए *को* का विकृत रूप *के* भी *लए, लएँ, काज, काजे, तौंई* आदि रूपों के साथ मिल कर सम्पूर्ण क्षेत्र में प्रयुक्त होता है, विशेषतया यह प्रयोग पूर्वी जिलों में अधिक है, जैसे *वौ रामदास के तौंई आम लाओ*। मथुरा से लिए गए एक पद्य में *काजैं* रूप *के काजे* के लिए प्रयुक्त हुआ है, जैसे *जोग काजैं रुद्र*।

प्राचीन ब्रज में के संयुक्त रूपों में विशेषण परसर्ग *के, की* सर्वाधिक प्रचलित है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :

के अर्थ,	जैसे	*विद्या-साधन के अर्थ*	(लल्लू० ५-२०)
के कर्म,	जैसे	*माखन के कर्म*	(सूर० म० ७)
के पाछें,	जैसे	*तियन के पाछें*	(नन्द० ५-१७)
के संग,	जैसे	*तिन के संग*	(नन्द० १-३३)
के साथ,	जैसे	*जार के साथ*	(लल्लू० ६२-१६)
की नाईं,	जैसे	*उनमत की नाईं*	(नन्द० २-२८)।

के लये, के लयें, के काज, के निमित्त, के अर्थ इत्यादि जैसे रूप लल्लूलाल द्वारा प्रयुक्त हुए हैं।

प्राचीन ब्रज में पाए जाने वाले कुछ अन्य संयुक्त परसर्गों के उदाहरण आगे दिए जाते हैं :

में कौ, जैसे पानी में कौ लौनु (विहा० १८)
में ते, जैसे उन रुपइयान में ते (गोकु० ४०-५)
में तें जैसे राज सभा में तें (लल्लू० ५-१२)

परसर्गों के समान प्रयुक्त अन्य शब्द

नीचे ऐसे शब्दों की सूची दी जाती है जो परसर्गों के समान प्रयुक्त होते हैं। तत्सम शब्दों को छोड़ कर, जो केवल प्राचीन व्रज में पाए जाते हैं, दूसरे शब्द प्राचीन व्रज तथा आधुनिक व्रज दोनों में ही प्रयुक्त होते हैं। आधुनिक व्रज में साधारणतया ये *के* अथवा *की* के बाद प्रयुक्त होते हैं :

आगे,	जैसे	*या आगे*	(नन्द० १-१००)
		तीन तुक के आगे	(गोकुल० २९-१०)
बिन, बिना,	जैसे	*पिय बिन*	(नन्द० १-४)
भर,	जैसे	*जीवतु भर*	(लल्लू० ३३-८)
बीच,	जैसे	*वन बीच*	(नन्द० १-७२)
ढिंग,	जैसे	*मुख ढिंग*	(नन्द० २-४८)
हित,	जैसे	*भुव हित*	(लल्लू० ६-१६)
कर अथवा करि,	जैसे	*विद्या करि तिन*	(लल्लू० ३१-११)
		निज तरंग करि	(नन्द० १-१२३)
लगि,	जैसे,	*त्यँहि लगि*	(नन्द० ३-१६)
लौ, लौं अथवा लों,	जैसे	*कान लौ*	(सेना० १, दे० नरो० २०, दास० ३-१६)
निकट,	जैसे	*जमुन निकट*	(नन्द० २-१८)
प्रति,	जैसे	*तुम प्रति*	(नन्द० ४-२८)
प्रयंत,	जैसे	*ग्रीवा प्रयंत*	(सूर० य० २)
सँग,	जैसे	*सखियन सँग*	(सूर० य० १)
सहित,	जैसे	*रति सहित*	(नन्द० १-६८)
से अथवा सी,	जैसे	*तीर से*	(सेना० ४, दे० नन्द० १-६८)
सम,	जैसे	*हरि सम*	(नन्द० २-२७)
समेत,	जैसे	*वधू समेत*	(तुलसी क० २-२४)
ताई, ताईं अथवा ताँहि	जैसे	*मोह ताई*	(गो० ४०-९, दे० ११-१५, २९-१०)
तन,	जैसे	*हरि तन*	(सूर० य० १५)
तर अथवा तरु,	जैसे	*चरन तर*	(नन्द० १-११४; दे० १-३६)

आधुनिक व्रज में कुछ नए परसर्गयुक्त शब्द पाए जाते हैं, जैसे *हमारी ओरी; वाके कने; वा घाईं; वा भौंईं* इत्यादि।

९. क्रिया

२०७. क्रिया के रूप की दृष्टि से ब्रजभाषा की मूल क्रिया में कोई विशेषता नहीं पाई जाती है। अर्थ की दृष्टि से मूल रूप या भाव वाच्य होता है या कर्मवाच्य : *पेड़ कटत हैं, वौ पेड़ काटत है*। कर्मवाच्य मूल रूप सदा अकर्मक होते हैं तथा भाववाच्य सकर्मक तथा अकर्मक दोनों प्रकार के होते हैं। क्रिया के मूल रूप साधारण तथा प्रेरणार्थक दो प्रकार के पाए जाते हैं।

प्रेरणार्थक

२०८. ब्रज में दो प्रकार के प्रेरणार्थक प्रत्यय हैं: *–आ–* और *–व–*। अकर्मक धातुओं में *–आ–* लगाने से धातु सकर्मक मात्र हो कर रह जाती है अतः ऐसी धातुओं के प्रेरणार्थक रूप *–व–* लगा कर बनते हैं, जैसे *भात पकत है, वौ भात पकाउत है, वौ नौकर सें भात पकवाउत है*। सकर्मक धातुओं में पहला रूप प्रेरणार्थक है तथा दूसरा रूप दोहरा प्रेरणार्थक है, जैसे *वौ चल्त है, वौ बच्चा कौ चलाउत है, वौ बच्चा कौ नौकर सें चलवाउत है।*

आधुनिक ब्रज में व्यंजन में अन्त होने वाली धातुओं में निम्नलिखित चिह्न लगा कर प्रेरणार्थक बनता है :

(१) *–अ–* भविष्य आज्ञार्थ में (*चलइऔ*)

(२) *–आ–* पूर्वकालिक कृदन्त (*चलाइ*), भूतकालिक कृदन्त (*चलाऔ*) ह भविष्य (*चलाइहै*) और ग भविष्य प्रथम पुरुष एकवचन में (*चलाउँगो*)

(३) *–आउ–* क्रियार्थक संज्ञा (*चलाउनो*), कर्तृवाचक संज्ञा (*चलाउन वारो*), वर्तमान कालिक कृदन्त (*चलाउत*) और (४) *–आव–* प्रथम निश्चयार्थ (*चलावैं*) और उत्तम पुरुष एकवचन को छोड़ कर ग भविष्य (*चलावैंगो*) में।

व्यंजनान्त धातुओं में प्रेरणार्थक प्रत्यय के पहले *–व–* लगाकर दुहरा प्रेरणार्थक बनता है : *चल्वाइ, चल्वाऔ, चल्वाउंगो* इत्यादि : *वौ लड़का कौ नौकर सें चल्वाउत है।*

स्वरान्त धातुओं के प्रेरणार्थक तथा दुहरे प्रेरणार्थक रूप व्यंजनान्त धातुओं से बने रूपों के प्रेरणार्थक के समान ही होते हैं, केवल अन्तिम स्वर में निम्नलिखित परिवर्तन हो जाते हैं :

(क) *–आ– –ई– –ऊ–* ह्रस्व कर दिए जाते हैं, जैसे *खानो, खवाउनो; पीनो, पिवाउनो; चूनो, चुवाउनो।*

(ख) *–ए* तथा *–ओ* क्रमशः *–इ* तथा *–उ* में बदल जाते हैं, जैसे *लेनो, लिवाउनो; सोनो सुवाउनो।*

कुछ अकर्मक क्रियाएं धातु के स्वर अथवा स्वर और व्यंजन दोनों को ही परिवर्तित कर के दूसरा रूप बना लेते हैं। किन्तु यह परिवर्तन क्रिया को सकर्मक में बदल देता है तथा प्रेरणार्थक का भाव नहीं देता :

(क) स्वर को दीर्घ करके, जैसे *निकर– निकार*; *उखड़– उखाड़*; इसी प्रकार *काट–, बाँध–, मार–* इत्यादि।

(ख) इ का ए में तथा उ का ओ में परिवर्तन करके, जैसे *फिर– फेर–*; *खुल– खोल–* इत्यादि।

(ग) स्वर तथा व्यंजन दोनों में विकार लाते हुए, उदाहरण के लिए :

(१) ट का ड़ में परिवर्तन करके, जैसे *फट– फाड़–*,
(२) क का च में परिवर्तन करके, जैसे *बिक– बेच–*
(३) ह का ख में परिवर्तन करके, जैसे *रह– राख–*

प्राचीन ब्रज में व्यंजनान्त धातुओं में निम्नलिखित प्रत्यय लगा कर प्रेरणार्थक बनता है :

(क) पूर्वकालिक कृदन्त, भूत निश्चयार्थ तथा वर्तमान और भविष्य निश्चयार्थ उत्तम पुरुष एकवचन के रूपों में

–आ–, *सिखाई* (मति० ११)
करायो (सूर० वि० १४)
समुझाऊँ (नर० १७)

(ख) क्रियार्थक संज्ञा में, कर्तृवाचक संज्ञा तथा भूत संभावनार्थ में
–औ–, जैसे *हटौती* (नरो० १३)

(ग) उत्तमपुरुष एकवचन को छोड़कर वर्तमान तथा भविष्य निश्चयार्थ के अन्य रूपों में :

–आव– जैसे *कहावै* (केशव १-३५)

व्यंजनान्त धातुएँ प्रेरणार्थक रूपों में अथवा धातुओं में प्रेरणार्थक का चिह्न लगाने के पूर्व *–व–* जोड़ कर (लिखित रूप में *–व–* जोड़कर) दोहरे प्रेरणार्थक बनाती हैं, जैसे *चढ़ावत* (केशव १-३१) *छुवायो* (मति० १९)।

स्वरान्त धातुओं के प्रेरणार्थक अथवा दोहरे प्रेरणार्थक रूप व्यंजनान्त धातुओं के दोहरे प्रेरणार्थक रूपों की भाँति ही होते हैं। अन्तिम स्वर में निम्नलिखित परिवर्तन हो जाते हैं :

(क) *–आ, –ई, –ऊ* ह्रस्व हो जाते हैं, जैसे *जिवाय* (नाभा ४३), *खवाइवे को* (पद्मा० ९-४०)

(ख) *–ए* और *–ओ* क्रमशः *–इ* तथा *–उ* में बदल जाते हैं, जैसे *दिवायो* (सूर० वि० १४)

प्रेरणार्थक की रचना का सिद्धान्त अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में भी ब्रज की ही भाँति है, अर्थात् मूलशब्द में *–आ–* अथवा *–व–* जोड़कर।

वाच्य

२०९. प्राचीन ब्रजभाषा में *–य–* लगा कर बने हुए संयोगात्मक कर्मवाच्य रूपों का प्रयोग वियोगात्मक शैली के कर्मवाच्य के साथ साथ पर्याप्त मिलता है, जैसे *आप खाय तो सहिये* (नू० म० ८), *मान जानियत* (मति० ४७), *ऐरावत गज सो तो इन्द्रलोक सुनियै* (भूषण ५०)।

प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही ब्रज में प्रधान क्रिया में *जानो* क्रिया जोड़कर साधारणतया कर्मवाच्य बनता है, जैसे *करो गओ* (बरे०) *ना बखानी काहू पै गई।* इस प्रकार यह संयुक्त क्रिया है (§ २३८)

ब्रज की भाँति अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में भी कर्मवाच्य के ये दोनों रूप साथ साथ प्रयुक्त होते हैं।

मूलकाल

२१०. अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के समान ब्रजभाषा में क्रिया की काल रचना में दो प्रकार के रूप पाए जाते हैं, पहला जिनमें पुरुष का अर्थ क्रिया के रूप में सन्निहित रहता है अर्थात् मूलकाल और दूसरा जिनमें पुरुष का भाव क्रिया के रूप में सन्निहित नहीं रहता है अर्थात् कृदन्ती काल।

ब्रजभाषा में मूलकाल तीन हैं, १, वर्त्तमान निश्चयार्थ, २. भविष्य निश्चयार्थ और ३. आज्ञार्थ। कृदन्ती रूप, जो काल रचना में प्रयुक्त होते हैं, निम्नलिखित हैं: १. वर्त्तमान कालिक कृदन्त, २. भूतकालिक कृदन्त और ३. भूत संभावनार्थ। ये कृदन्ती रूप विशेषण के समान भी प्रयुक्त होते हैं। इनके अतिरिक्त क्रियार्थक संज्ञा और पूर्वकालिक कृदन्त के पृथक् रूप होते हैं।

क्रिया के भिन्न भिन्न भावों को प्रकट करना उपर्युक्त रूपों को आपस में मिला कर अथवा सहायक क्रिया के रूपों से मिला कर होता है। कर्मवाच्य का प्रचलित रूप इसी प्रकार का संयुक्त क्रिया का एक रूप है।

वर्ग १
(वर्त्तमान निश्चयार्थ)

२११. आधुनिक ब्रज में मूलकाल के प्रथम वर्ग के रूपों में धातु में निम्नलिखित प्रत्यय लगाए जाते हैं :

	एक०		बहु०	
१.	–औं	(चलौं)	–ैं	(चलैं)
२.	–ै	(चलै)	–औ	(चलौ)
३.	–ै	(चलै)	–ैं	(चलैं)

दक्षिण तथा कुछ पश्चिमी भागों में (उ० पु०) उत्तम पुरुष एकवचन में –ऊँ (चलूँ) लगता है।

प्राचीन ब्रज में निम्नलिखित प्रत्यय लगाए जाते हैं :

१.	–औं –ऊँ –ओं	–ऐं –एँ –हि
२.	–अहि	–औ –ओ
३.	–ऐ –य –इ	–ऐं

उत्तम पुरुष : एकवचन –औं व्यंजनांत धातुओं में लगता है, कहौं (सूर० म० १७); –ऊँ साधारणतया स्वरान्त धातुओं में लगता है : पाऊँ (घन० २), यद्यपि कभी कभी व्यंजनांत धातुओं में भी पाया जाता है : चलूँ (गोकुल० ११-१२); –ओं बहुत कम प्रयुक्त हुआ है : जानों (गोकुल० २८-२३)। बहुवचन में साधारणतया –ऐं –एं का प्रयोग हुआ है, –हि बहुत कम पाया जाता है, करें (गोकुल० २३-३), जाहिं (विहा० १२६)।

मध्यम पुरुष : एकवचन रूप–अहि कम मिलता है : सकहि (हित० ४)। बहुवचन –औ के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं : आवौ (नंद० ३-२३);–ओ का प्रयोग कम है : करो (मति० ३८)। बहुवचन के रूप सदा बहुवचन का अर्थ नहीं देते हैं।

अन्य पुरुष : एकवचन में –ऐ रूप सब से अधिक पाए जाते हैं : सुनै (घना० १९)। –ए रूप बहुत कम मिलता है : मिले (गोकुल० ८-९), –य तथा –इ रूप स्वरान्त धातुओं में ही मिलते हैं : खाय (सूर० म० १४), होइ (विहा० १२१)। बहुवचन में –ऐं साधारण रूप है : रहैं (नरो० ७), –एँ कभी कभी मिल जाता है : गावें (नंद० ७६)।

उपर्युक्त प्रत्यय कुछ परिवर्त्तनों के साथ समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में व्यवहृत होते हैं।

२१२. आधुनिक ब्रज में प्रथम वर्ग के रूप निम्नलिखित अर्थों में प्रयुक्त होते हैं :

(क) गीत तथा कविता में प्राय: वर्तमान काल के अर्थ में : *सूरत देखै अपने लाल की* (बु०);

(ख) गद्य में नकारात्मक अर्थ में वर्त्तमान काल के अर्थ में प्रयोग प्राय: मिल जाता है अन्यथा बहुत ही कम होता है : *गाम के कहैं* (धौ०) *मैं ना करूँ हाँसी* (ज० पू०);

(ग) कहानियों में ऐतिहासिक वर्त्तमान काल के अर्थ में : *तौ देखौं तौ ह्वाँई धरी* (म०);

(घ) प्रश्नवाचक वाक्यों में निकट भविष्य के अर्थ में : *पान लगाऊँ ?*;

(ङ) वर्तमान संभावनार्थ में जो आदि संभावना द्योतक शब्दों के साथ : *जो यौ चलै तौ याय आप दै दीजिऔ;*

(च) केवल मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप आज्ञार्थ में : *तुम चलौ।*

प्राचीन ब्रज में उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त भविष्य काल के अर्थ में भी इनका प्रयोग होता है : *साँटिन मारि करौं पहुनाई* (सूर० म० १७), *पाप पुरातन भागै* (केशव० १-२०)

विशेप—केवल मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप आज्ञार्थ में भी प्रयुक्त होता है : (§ २१५) *तुम चलौ।*

२१३. भविष्य काल उपर्युक्त प्रथम वर्ग अर्थात् वर्तमान निश्चयार्थ के रूपों में विशेषण का रूप लगा कर बनता है। पूर्व तथा दक्षिण अनेक भागों में (बरे०, ए०, ब०, बु० जय०, धौ०, प० ग्वा०) में निम्नलिखित प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। प्रत्यय के कारण मूल रूप के अंत्यांश में कभी कभी विकार आ जाता है :

आधुनिक ब्रज

पुल्लिङ्ग

उत्तम पुरुष	–ऊं –गो,	(चलुंगो)	–अं –गे	(चलंगे)
मध्यम पुरुष	–ऐ –गो,	(चलैगो)	–औ –गे	(चलौगे)
अन्य पुरुष	–ऐ –गो,	(चलैगो)	–अं –गे	(चलंगे)

स्त्रीलिङ्ग

उत्तम पुरुष	–उं –गी	(चलुंगी)	–अं –गीं	(चलंगीं)
मध्यम पुरुष	–ऐ –गी	(चलैगी)	–औ –गी	(चलौगी)
अन्य पुरुष	–ऐ –गी	(चलैगी)	–अं –गीं	(चलंगीं)

–आ तथा –ए अन्तवाली धातुओं में प्रथम प्रत्यय का –अ– उसमें सम्मिलित कर लिया जाता है, जैसे *खांगे, जांगे, लेंगे, देंगे।*

ले तथा दे धातुएं प्रथम पुरुष एक वचन, बहुवचन में तथा अन्य पुरुष बहुवचन में निम्नलिखित वैकल्पिक रूप ग्रहण करती हैं :

	ए० व०	ब० व०
उ० पु० पु०	*लुंगो दुंगो*	*लिंगे दिंगे*
स्त्री०	*लुंगी दुंगी*	*लिंगी दिंगी*
उ० पु० पु०		*लिंगे दिंगे*
स्त्री०		*लिंगी दिंगी*

ये रूप समस्त ब्रज क्षेत्र में कभी कभी पाए जाते हैं।

पश्चिम तथा दक्षिण के कुछ जिलों में (भ० क०) जहां कहीं भी—ओ–पाया जाता है उसका उच्चारण –औ (§ ९३) की भांति होता है, जैसे प्रथमपुरुष एकवचन *चलुँगौ।*

प्राचीन ब्रज

पुल्लिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	–औं –गौ, –ऊँ –गौ	
	–उँ –गौ (स्वरान्त धातु के बाद)	–एँ –गे
मध्यम पुरुष	–ऐ –गौ	–औ –गे, –ओ –गे
	–य –गौ*	–हु –गे*
अन्य पुरुष	–ऐ –गौ, –ए –गौ, –य –गौ;	–ऐं –गे, –एं –गे, –हिं –गे
	–इ –गौ	–इ –गे

स्त्रीलिङ्ग

उत्तम पुरुष	*-औं -गी,* *-वों -गी**	*-अहगी*
मध्यम पुरुष	*-ऐ -गी*	*-अहु -गी, -औ -गी, -ओ -गी*
प्रथम पुरुष	*-अहि -गी, -ऐ -गी* *-य -गी**	*-अहिं -गी*

सूचना—ऊपर के रूपों में * चिह्न युक्त रूप प्रायः दीर्घ स्वरान्त धातुओं के वाद प्रयुक्त होते हैं।

प्राचीन व्रज में **ग** तथा **ह** लगा कर वनाए हुए भविष्य निश्चयार्थ के रूपों का प्रयोग साथ साथ स्वतत्रंता पूर्वक मिलता है, जैसे *टूट्यौ सो न जुड़ैगो सरासन* (तुलसी० क० १-१९)।

अन्य आधुनिक भाषाओं में, **ग** भविष्य, मालवी, मेवाती, गुर्जरी, खड़ीवोली तथा पंजावी में पाया जाता है। वैकल्पिक रूप से यह वुंदेली, मारवाड़ी तथा मैथिली में भी पाया जाता है।

वर्ग २.

२१४. दूसरा मुख्य संयोगात्मक रूप **ह** भविष्य है, जो साधारण रूप से पूर्वी व्रज क्षेत्र (मैं०, इ०, फ०, शा०, पी०, ह०, का०) में पाया जाता है। इस क्षेत्र में **ग** भविष्य के रूप भी कहीं कहीं पाए जाते हैं।

प्राचीन तथा आधुनिक दोनों व्रजों में भविष्य निश्चयार्थ के **ह** लगा कर वनाए हुए रूपों में निम्नलिखित प्रत्यय लगते हैं। लिंग के कारण इनमें भेद नहीं होता है:

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	-इहौं, (चलिहौं)	-इहैं (चलिहैं)
मध्यम पुरुष	-इहै (चलिहै)	-इहौ (चलिहौ)
प्रथम पुरुष	-इहै (चलिहै)	-इहैं (चलिहैं)

दीर्घ स्वरान्त आकारान्त धातुओं में प्रत्यय लगाने के पूर्व अन्तिम स्वर ह्रस्व हो जाता है, जैसे *खैहौ, जैहौ*। **ह** के लोप की प्रवृत्ति सम्पूर्ण व्रज क्षेत्र में पायी जाती है: शाह० में अन्तिम अंश *-ऐ* तथा *-औ* क्रमशः *-अइ* तथा *-अउ* में वदल जाते हैं। (§ ९७)

प्राचीन व्रज में एकारान्त धातुओं में प्रत्यय का इकार कभी कभी लुप्त हो जाता है, जैसे *ये मेरी मर्यादा लेहैं* (सूर य० १९)

भविष्य निश्चयार्थ के **ह** प्रत्यय लगाने के पूर्व **ह** अन्त वाली धातुओं के **ह** का प्रायः लोप हो जाता है, जैसे *की केहौं वे जैसे हैं* (सूर० य० २१)। (§ ११४)

प्राचीन तथा आधुनिक दोनों व्रज भाषाओं में **ग** तथा **ह** लगा कर वनाए गए भविष्यों का प्रयोग साथ साथ मिलता है। यह अवश्य है कि वाद के लेखकों की कृतियों में कदाचित् मधुरता तथा छन्द की सुविधा के कारण **ह** भविष्य का प्रयोग कुछ अधिक मिलता

है। कालान्तर में पूर्वी क्षेत्र के लेखकों का बड़ी संख्या में ब्रजभाषा में लिखना भी एक अन्य कारण हो सकता है।

प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ब्रजों में बहुधा भविष्य निश्चयार्थ के मध्यम पुरुष के के रूप भविष्य आज्ञार्थ के भाव में भी प्रयुक्त होते हैं। साधारण भविष्य निश्चयार्थ से अन्तर रखने के लिए ही कदाचित् प्रत्यय के हकार का लोप हो जाता है। जैसे *मेरे घर को द्वार सखी री तब लौं देखे रहियो* (सू० म० १), *तू हाँ जरूर जइऐ*, *तुम कल किताब जरूर पढ़िओ*।

पूर्वी सीमा के कुछ ज़िलों में (ह० का०) अवधी ब भविष्य के रूप भी कभी कभी प्रयुक्त होते हैं, जैसे *हम मरिबे* (का०)।

ह भविष्य का प्रयोग बुन्देली तथा मारवाड़ी में वैकल्पिक रूप से होता है। ह भविष्य से बने हुए कुछ रूप पूर्वी हिंदी बोलियों तथा भोजपुरी में भी पाए जाते हैं। तुलनार्थ देखिए गुजराती, जयपुरी, निमाड़ी, सिंधी तथा लहंदा में पाया जाने वाला स भविष्य।

वर्ग ३

२१५. ब्रज में तीसरा संयोगात्मक रूप वर्तमान आज्ञार्थ है। आधुनिक ब्रज में मध्यम पुरुष एकवचन के रूप धातुओं के समान ही होते हैं, जैसे **चल**।

मध्यम पुरुष बहुवचन का प्रत्यय –ओ प्रथम वर्ग मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप के समान होते हैं, जैसे **चलो**।

दीर्घ स्वरान्त धातुओं में बहुवचन के प्रत्यय का–अ उसमें सम्मिलित हो जाता है, जैसे **खाओ, जाओ, लेओ** इत्यादि। पूर्वी ज़िलों में कभी कभी मध्यम पुरुष, एकवचन में उ जोड़ दिया जाता है, जैसे **चलु** (मै०), **करु** (बदा०)

प्राचीन ब्रज में वर्तमान आज्ञार्थ बनाने के लिए मध्यम पुरुष में निम्नलिखित प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

एकवचन	बहुवचन
–अ, –उ, –इ, –हि	–अहु, –ओ, –औ; –हु –उ
(अंतिम प्रत्यय दीर्घ स्वरान्त धातुओं के बाद, जैसे *जाहिं*)	(अंतिम दो प्रत्यय दीर्घ स्वरान्त धातुओं के बाद, जैसे *लेहु, जाउ*)

एकवचन -अ रूप धातु की भांति ही समझा जा सकता है, किन्तु यह रूप -उ रूप से कम प्रचलित है। साधारण प्रचलित रूप -उ ही है। दीर्घ स्वरान्त धातुओं में कोई प्रत्यय नहीं जोड़ा जाता, जैसे *सोई तब हीं तू दै री* (सूर० म० १०), *सताए लै* (दास० १३-२८)।

परन्तु स्पष्ट वर्तमान आज्ञार्थ के मध्यम पुरुष एकवचन की रचना समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पाई जाती है।

कृदन्ती रूप

२१६. अन्य-आधुनिक भाषाओं की भाँति ब्रज में भी क्रिया की रूप रचना में कृदन्त का अत्यधिक महत्व है। ये कृदन्त दो प्रकार के हैं—वर्तमानकालिक कृदन्त तथा भूतकालिक कृदन्त। दोनों ही कृदन्तों का प्रयोग विशेषण, प्रधान क्रिया, संयुक्त क्रिया के अंग तथा क्रियार्थक वाक्यांशों की भाँति होता है, जैसे *चलत आदमी सै मत बोलौ, बहुत चलो आदमी आपै थक जायगो; तुम क्यों नायँ चलत, बौ चार दिन चलो, बौ रोज सवेरे चलत है, बौ चार दिन चलो है।*

वर्तमानकालिक कृदन्त

२१७. आधुनिक ब्रज में वर्तमानकालिक कृदन्त के मुख्य रूप *-त* या *-तृ* प्रत्यय लगा कर बनते हैं।

आधुनिक ब्रज में, विशेषतया पूर्व में (बरे०, ब०, मै०, फ०, शा०, पी०, प० ग्वा० में भी), वर्तमानकालिक कृदन्त के रूप स्वरान्त धातुओं में *-तृ* लगा कर तथा व्यंजनान्त धातुओं में *-त* लगा कर बनाए जाते हैं, जैसे *खात चलत*। पश्चिम में (म०, आ०, अ० धौ०, ए० में भी) साधारणतया *-तु* दक्षिण के कुछ ज़िलों (पू० जय०, करौ०) में *-तो* तथा बु०, भ० में *-तौ* प्रत्यय जोड़ते है। पूर्वी सीमा के कुछ जिलों में (ह०, का०, इ० में भी) व्यंजनान्त धातुओं के बाद *-अत* तथा स्वरांत धातुओं के बाद *-त* जोड़ा जाता है, जैसे *चलत, खात।*

लिंग तथा वचन के कारण वर्तमानकालिक कृदन्त के रूपों में कोई अन्तर नहीं आता। स्त्रीलिंग बहुवचन इसका अपवाद है, जिसकी रचना मूल शब्द में—*ती* प्रत्यय जोड़ कर होती है, जैसे *आदमी जात है, आदमी जात हैं, औरत जात है* किन्तु *औरतैं जाती हैं*।

उत्तम पुरुष बहुवचन में स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग बहुत कम होता है, जैसे *हम जात हैं* का प्रयोग पहले प्रयोग में आने वाले रूप *हम जाती हैं* से अधिक होने लगा है। दूसरे पुरुषों के स्त्रीलिंग बहुवचन रूपों के स्थान पर भी सामान्य प्रचलित रूप का प्रयोग होने लगा है किन्तु यह परिवर्तन अभी अत्यन्त मन्द गति से हो रहा है।

प्राचीन ब्रज में पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग दोनों में वर्तमानकालिक कृदन्त के रूप व्यंजनान्त धातुओं में *-अत* लगा कर बनाए जाते हैं, जैसे *सेवत* (नन्द १-२७), तथा स्वरान्त धातुओं में *-त* लगा कर बनाए जाते हैं, जैसे—*जात* (बिहा० १५)।

इन रूपों के अतिरिक्त पुल्लिग में *-अतु* अथवा *-तु* तथा स्त्रीलिंग में *-अति* अथवा *-ति* लगा कर भी रूप बनते हैं—और इनका प्रयोग भी पर्याप्त मिलता है, जैसे *गावतु है* (सेना० १७), *जातु है* (दास० ३२-३६), *यशोदा कहति* (सू० म० ६), *राम को रूप निहारति जानकी* (तुलसी० क० १-१७)।

स्त्रीलिंग प्रत्यय के रूप में *ती* बहुत कम प्रयुक्त होता है, जैसे *बोलती हौ* (मति० ४७)।

–अत्, *–अत*, अथवा *–अतु* प्रत्यय वाले वर्तमानकालिक कृदन्त का प्रयोग हिंदी की लगभग समस्त बोलियों में पाया जाता है। खड़ीबोली में पंजाबी की भांति *–ता* रूप प्रचलित है। पश्चिमी भाषाओं में पंजाबी के समान *–दा* रूप है। *–ता* रूप मराठी तथा भोजपुरी में भी है। राजस्थानी की बोलियों, गुजराती तथा गुर्जरी में *–तो* रूप प्रचलित है, जब कि पूर्वी भाषाओं में अधिकतर *–इन* अथवा *–ते* प्रत्यय लगता है। तुलनार्थ दे० पंजा०, लँह०, *–दा*, पहाड़ी *–दो* तथा सिंधी *–औंदो*।

भूत संभावनार्थ

२१८. आधुनिक ब्रज में भूत संभावनार्थ के लिए धातु में निम्नलिखित प्रत्यय लगाए जाते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
पुल्लिंग	*–तो* (चल्तो)	*–ते* (चल्ते)
स्त्रीलिंग	*–ती* (चल्ती)	*–तीं* (चल्तीं)

यह प्रत्यय पश्चिम को छोड़ कर सम्पूर्ण ब्रज क्षेत्र में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। पश्चिम में (म० में भी) *–तो* प्रत्यय *–तौ* के रूप में पाया जाता है, जैसे चल्तौ (म०)

प्राचीन ब्रज में भूत संभावनार्थ के लिए धातु में निम्नलिखित प्रत्यय लगाए जाते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
पुल्लिंग	*–अतो*, *–अतौ*	*–अते*
स्त्रीलिंग	*–अती*	*–अतीं*

स्वरान्त धातुओं में प्रत्ययों का अ– लुप्त हो जाता है। उदाहरण, अगर मैं चलूतो *मैं पहुंच जातो, कोदौ सवाँ जुरतो भरि पेट* (नरो० १३)।

भूत संभावनार्थ रूप *तो* इत्यादि गुजराती और राजस्थानी में भी पाए जाते हैं। तुलनार्थ दे० खड़ीबोली *–ता*।

उदाहरणार्थ बरेली की बोली में निम्नलिखित रूप मिलते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
पुल्लिंग	**चलो**	**चले**
स्त्रीलिंग	**चली**	**चलीं**

प्राचीन ब्रज में निम्नलिखित प्रत्यय जोड़े जाते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
पुल्लिग	*–ओ –औ –यो –यौ*	*–ए –ये, –यै*
स्त्रीलिंग	*–ई*	*–ईं*

पुल्लिग एकवचन में *–ओ* तथा *–यो* अन्त वाले रूपों का प्रयोग सब से अधिक मिलता है, यद्यपि *–यो* रूप ही अधिक मान्य हैं, जैसे *बखानो* (दास २-८), *कब गयो तेरी ओर* (सू० म० ६)। *–यौ* अन्त वाले रूपों का प्रयोग कुछ कम मिलता है, *–औ* अन्त वाले रूपों का प्रयोग बहुत कम मिलता है, जैसे *तैं पायौ* (हित० १७), *कीनौ* (लाल० १०-६)। *–ओ* रूप *कीन्हों* (भूषण ३४) जैसे रूपों में ही पाया जाता है। *–एउ* रूप भी बहुत ही कम पाया जाता है, जैसे **घर घरेउ हो** (सूर० म० ५)।

पुल्लिग बहुवचन रूप *–ए* समस्त रूपों में सर्वाधिक प्रचलित हैं, जैसे *हँसत चले* (सू० म० ४)। स्वरान्त धातुओं में *–ये* अथवा *–यै* पाया जाता है, जैसे *बनाये* (देव० १-१०) *आयै* (गोकुल १-२)। *–एँ* रूप *कीन्हें* आदि क्रियाओं में कभी कभी प्रयुक्त होता है, जैसे *गाढ़े करि लीन्हें* (सूर० म० ४)।

स्त्रीलिंग एकवचन के ई अन्त वाले रूपों में विभिन्नता नहीं पाई जाती, जैसे *चली,* (नन्द० १-१०) *आई* (पद्मा० ४-१४)।

स्त्रीलिंग बहुवचन के ईं अन्त वाले रूपों का प्रयोग बहुत कम मिलता है, जैसे *आईं ब्रज नारी* (हित० २६; रास० १०, बिहा० ४)।

–औ अन्त वाले भूतकालिक कृदन्ती रूप बुंदेली, कुमायूनी तथा जौनसरी में पाए जाते हैं, जब कि *–यो* रूप का प्रचार गुजराती, राजस्थानी, नैपाली, गढ़वाली, गुर्जरी तथा सिंधी में है।

ब्रज के अतिरिक्त हिंदी की पश्चिमी बोलियों में, तथा राजस्थानी, गुजराती, उत्तरी पश्चिमी भाषाओं और पहाड़ी भाषाओं में भूतकालिक कृदन्त नियमित रूप से भूत निश्चयार्थ तथा विशेषण की (जैसे *चलो रुपैया*) की भाँति प्रयुक्त होता है।

क्रियार्थक संज्ञा

२२०. ब्रजभाषा में दो प्रकार के क्रियार्थक संज्ञा संज्ञा के रूप मिलते हैं, एक *ब* वाले और दूसरे *न* वाले। इन दोनों में मूलरूप तथा विकृत रूप होते हैं।

साधारणतया पूर्व (बरे०, ब०, इ०, शा०, पी०, ह०, का०) में, किन्तु कभी कभी पश्चिम और दक्षिण (म०, अ०, बु०, भ०) में भी धातुओं में *–नो* लगा कर मूलरूप बनाते हैं, जैसे *चलनो, खानो*। पश्चिम में (भ० में भी) *–बौ* और दक्षिण में (मै० फ० में) *–बो* पूर्वकालिक कृदन्त में लगा कर यह रूप बनाते हैं, जैसे *चलिबौ, खायबो*।

कभी कभी –*नी* तथा –*ने* जैसे कुछ असाधारण रूप भी मिल जाते हैं, जैसे *होनी* (लाल० १२-३) *खोने लगी* (दास० २६-१६)। प्रथम रूप –*नी* तो *होनो* क्रियार्थक संज्ञा का विशेष अर्थ में स्त्रीलिंग रूप में प्रयोग है, और दूसरा –*ने* रूप स्पष्टतया खड़ी बोली का है।

छन्द की आवश्यकता के कारण मूल रूपों के लिए कभी कभी विकृत रूपों का प्रयोग किया गया है, जैसे *हरि की सी सब चलन बिलोकन* (नन्द० २-२६), *गुपाल की गावनि* (देव० १-१६)।

विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए अन्य संज्ञाओं में लगाए गए परसर्गों की भाँति क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूपों में भी परसर्ग जोड़े जाते हैं, जैसे *वाके चलन सै काम नायँ होयगो, उनके चलन मैं देर है।*

किसी उद्देश्य को प्रकट करने के लिए कभी कभी परसर्ग के विना विकृत रूप का प्रयोग होता है, जैसे *बौ खान जात है*। संयुक्त क्रियाओं में विना परसर्ग के इसका प्रयोग होता है।

क्रियार्थक संज्ञा के ब्रज में पाए जाने वाले रूपों में –*न* रूप का प्रयोग पश्चिमी हिंदी की बोलियों, मालवी, निमाड़ी, पहाड़ी बोलियों तथा उत्तर पश्चिमी भाषाओं तक (जिनमें *न ए* हो जाता है) तक फैला हुआ है। –*ब* रूप राजस्थानी की अन्य समस्त बोलियों सहित हिंदी की पूर्वी बोलियों में व्यवहृत होता है।

पूर्वकालिक कृदन्त

२२१. सम्पूर्ण ब्रज क्षेत्र में पूर्वकालिक कृदन्त व्यंजनान्त धातुओं में –इ जोड़ कर तथा *आकारान्त* अथवा *ओकारन्त* धातुओं में –*य* जोड़ कर वनते हैं; जैसे *चलि, खाय*। *ले, दे* तथा *पी* धातुओं के कृदन्त क्रमशः *लै दै* तथा *पी* हैं। सहायक क्रिया *हो* का पूर्वकालिक पूर्व में *हुइ* तथा दक्षिण और पश्चिम में *है* अथवा *हे* होता है। हरदोई, कानपुर में *कर* का पूर्वकालिक रूप *कै* है (तुलनार्थ दे० अवधी *कइ*)।

साधारणतया उपर्युक्त रूप विना परसर्ग के प्रयुक्त होते हैं, जैसे *बौ रोटी खाय घर गओ*, किंतु कभी कभी इन रूपों में पूर्व (बु० में भी) में *कै* तथा दक्षिण और पश्चिम (बु० को छोड़ कर) में *कैं* जोड़ा जाता है, जैसे *वौ रोटी खाय कै घर गओ*। पूर्व जयपुर में *केनी* भी मिलता है, जैसे *तोड़ी केनी दऊँ हूँ* (तोड़ कर दे रहा हूँ)।

प्राचीन ब्रजभाषा में व्यंजनान्त धातुओं में –इ लगा कर पूर्वकालिक बनाते हैं जैसे *करि* (सू० म० २)।

एकारान्त धातुओं में –ए के स्थान पर –ऐ कर के पूर्वकालिक कृदन्त के रूप बनाए जाते हैं, जैसे *लै* (सू० म० २)। ऊकारान्त धातुओं में साधारणतया ऊ के स्थान पर वै हो जाता है, जैसे *छ्वै* (मति० ३१)। आकारान्त तथा ओकारान्त धातुओं के पूर्वकालिक कृदन्त के रूप –इ के स्थान पर –*य* लगा कर बनते हैं, जैसे *खाय* (सू० म० ४), *खोय* (नन्द० २-५१)। आकारान्त धातुओं में कभी कभी –इ लगा कर बने हुए रूप भी प्रयुक्त होते

हैं, जैसे **धाइ** (सू० म० २७७-२)। सहायक क्रिया **हो** का पूर्वकालिक कृदन्त रूप साधारणतया **ह्वै** होता है, जैसे ***हौं तु प्रगट ह्वै नाची*** (हित० ७, दे० तुलसी० क० २-११)। **हौ** क्रिया में -इ लगाकर बनाए गए पूर्वकालिक कृदन्त के रूप भी पाए जाते हैं, जैसे **होइ** (नाभा ४९) (तुलनार्थ दे० अवधी)। **हो** के पूर्वकालिक कृदन्त रूप है के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं, जैसे ***सूर है कें ऐसो घिघियात काहे को है*** (गोकुल० ४-५)।

प्राचीन ब्रजभाषा में भी उपर्युक्त रूपों में के, कै, कें अथवा कैं रूप कभी कभी जोड़े जाते हैं, किंतु पूर्वकालिक कृदन्त बनाने का यह ढंग बहुत अधिक प्रचलित नहीं है, जैसे ***पकरि के*** (सू० म० ५), ***नाचि कैं*** (रस० १२)।

उत्तरकालीन प्राचीन ब्रजभाषा में खड़ीबोली हिन्दी पूर्वकालिक कृदन्त के प्रभाव पाए जाते हैं, जैसे ***ह्वै करि सहाइ*** (रोना० ९)।

अधिकांश आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पूर्वकालिक कृदन्त के लिए केवल धातु का ही प्रयोग अथवा धातु के साथ ***कर*** का प्रयोग किया जाता है। इसके अपवाद स्वरूप एकदम छोर पर की पश्चिमी, पूर्वी तथा दक्षिणी भाषाएँ हैं जिनमें साथ ही साथ कुछ अन्य रूप भी प्रयुक्त होते है।

क्रिया 'होनो'

२२२. ***होनो*** क्रिया का प्रयोग प्रायः सहायक क्रिया के समान होता है अतः इसके मुख्य रूप नीचे दिए जाते हैं।

इस क्रिया के दो मूल रूप हैं, *ह*— तथा —*हो*—। प्रथम का प्रयोग केवल वर्तमान निश्चयार्थ में होता है। दूसरे के आधार पर शेष समस्त रूप संयोगात्मक तथा कृदन्ती बनते हैं।

मूलकाल
वर्ग १

२२३. मैनपुरी को छोड़ कर सम्पूर्ण पूर्वी ब्रजप्रदेश में तथा पश्चिम और दक्षिण के कुछ भागों में भी (म०, बु०, भ०) ***होनो*** क्रिया के निम्नलिखित रूप वर्तमान निश्चयार्थ में सहायक क्रिया अथवा मूल क्रिया के समान प्रयुक्त होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु०	***हौं***	***हैं***
मध्यम पु०	***है***	***हौ***
प्रथम पु०	***है***	***हैं***

बुलंदशहर तथा भरतपुर में उत्तम पुरुष एकवचन रूप ***हूँ*** (तुलनार्थ हिंदी ***हूँ***) है, जो कभी कभी करौली में तथा नियमित रूप से पूर्वी जयपुर में प्रयुक्त होता है। कुछ जिलों में (मैं०, अ०, पू० ज० तथा कभी कभी क० में) हकार का लोप हो जाता है (§ ११४)। अलीगढ़ तथा करौली में उत्तम पुरुष एकवचन के रूप क्रमशः ***उँ*** और ***ऊँ*** हैं।

कुछ पूर्वी सीमान्त जिलो मे (शा०, ह०, का० मे) क्रिया के *–ऐ* और *–औ* संयुक्त स्वरो का उच्चारण क्रमशः *–अइ* तथा *–अउ* की भाँति होता है (§ ९७)। इसके अतिरिक्त इन तीन जिलों मे उपर्युक्त रूप *-गो* इत्यादि प्रत्ययो के साथ कभी कभी प्रयुक्त होते हैं।

दूसरी क्रियाओं के विपरीत इस क्रिया मे प्रत्यय लगने मे भविष्य के भाव का बोध नही होता। इन प्रत्ययो के साथ इसके निम्नलिखित रूप होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	*हौंगो* (स्त्री० *–गी*)	*हैंगे* (स्त्री० *गीं*)
मध्यम पुरुष	*हैगो* (स्त्री० *–गी*)	*हौगे* (स्त्री० *गीं*)
प्रथम पुरुष	*हैगो* (स्त्री० *–गी*)	*हैंगे* (स्त्री० *गीं*)

आगरा और धौलपुर मे रूप निम्नलिखित प्रकार के होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	*हतौं*	*हतुऐं* (आगरे मे *हते*)
मध्यम पुरुष	*हतुऐ*	*हतौ*
प्रथम पुरुष	*हतुऐ*	*हतुएँ*

पश्चिमी ग्वालियर मे उपर्युक्त का निम्नलिखित रूप होता है .

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	*हतौं*	*हतैं*
मध्यम पुरुष	*हतै*	*हतौ*
प्रथम पुरुष	*हतै*	*हतैं*

निम्नलिखित रूप सम्पूर्ण व्रज क्षेत्र मे प्रयुक्त होते हैं, किन्तु वे वर्तमान सभाव्नार्थ के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	*होउँ*	*होयँ*
मध्यम पुरुष	*होय*	*होउ*
प्रथम पुरुष	*होय*	*होयँ*

जैसे, *अगर मै झूँटो होउं* इ०।

२२४. उपर्युक्त रूप *होउँ* इत्यादि कुछ परिवर्त्तन के साथ *-गो* इत्यादि प्रत्ययो के साथ पाए जाते हैं, किन्तु इनसे भविष्य का बोध होता है तथा इनका प्रयोग उन क्षेत्रो से भिन्न स्थानो में होता है जहाँ *ह* भविष्य के रूप पाए जाते हैं (§ २१४)।

उदाहरणार्थ कुछ पूर्वी जिलो तथा कुछ पश्चिमी और उत्तरी क्षेत्रो मे भी (बरे०. ए०, ब०, बु०, क०) निम्नलिखित रूप प्रयुक्त होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	*होउँगो* (स्त्री० *–गी*)	*होंगे* (स्त्री० *गीं*)
मध्यम पुरुष	*होयगो* (स्त्री० *–गी*)	*होउगे* (स्त्री० *गीं*)
प्रथम पुरुष	*होयगो* (स्त्री० *–गी*)	*होंगे* (स्त्री० *गीं*)

अन्य क्रियाओं की भाँति इस क्रिया का पुल्लिंग उत्तम पुरुष बहुवचन रूप स्त्रीलिंग रूप का स्थान लेता जा रहा है। अलीगढ़ में अंत्य **-ओ** का उच्चारण **-औ** की भाँति होता है (§ ९३)। यह रूप कभी कभी मथुरा में भी पाया जाता है जहाँ दूसरा रूप ***हैँयगो*** मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष एकवचन में पाया जाता है।

दक्षिण में (पू० ज०, धौ०, प० ग्वा० तथा म० में भी) उपर्युक्त रूपों का उच्चारण निम्नलिखित प्रकार से होता है :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	***होँगो*** (स्त्री० ***-गी***)	***होंगे*** (स्त्री० ***-गीं***)
मध्यम पुरुष	***होगो*** (स्त्री० ***-गी***)	***होगे*** (स्त्री० ***-गीं***)
प्रथम पुरुष	***होगो*** (स्त्री० ***-गी***)	***होंगे*** (स्त्री० ***-गीं***)

आगरा में भी उपर्युक्त रूप प्रयुक्त होते हैं किन्तु अंत्य **-ओ** के स्थान पर **-औ** पाया जाता है।

२२५. प्राचीन ब्रज भाषा में निम्नलिखित मुख्य रूप होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	***हौं, हों, हूँ***	***हैं***
मध्यम पुरुष	***है***	***हौ***
प्रथम पुरुष	***है***	***हैं***

उत्तम पुरुष एकवचन रूप हौं सर्वाधिक प्रचलित है, जैसे ***मथुरा जाति हौं*** (सू० म० १)।

हों तथा ***हूँ*** रूप बहुत कम प्रयुक्त होते हैं, इनका प्रयोग गोकुलनाथ (जैसे १५-९, ३२-३) तक ही सीमित है। सेना० ३२ में ***हौ*** कदाचित् छापे की भूल के कारण है।

उत्तम पुरुष बहुवचन में ***हैं*** प्रचलित रूप है, जैसे ***देखे हैं अनेक ब्याह*** (तुलसी० क० १-१५)। अवधी रूप ***आहीं*** बहुत कम तथा कुछ ही लेखकों में पाया जाता है, जैसे ***हम आहीं*** (लाल० १९-२)।

मध्यम पुरुष एकवचन ***है*** रूप का प्रयोग समस्त लेखकों के द्वारा हुआ है, जैसे ***तू है*** (सू० म० ७)।

संस्कृत तत्सम रूप ***असि*** बहुत कम मिलता है, जैसे ***कासि कासि*** (नन्द० २-४९)।

मध्यम पुरुष बहुवचन ***हौ*** रूप के विशेष रूपान्तर नहीं होते, जैसे ***बहुत अचगरी करत फिरत हौ*** (सू० म० २)। हिन्दी ***हो*** रूप बहुत कम पाया जाता है, जैसे ***ना हो हमारे*** (घन० १८)। गोकुलनाथ (४२-१८) में ***हौं*** रूप पाया जाता है, किन्तु यह कदाचित् असावधानी के कारण है।

प्रथम पुरुष एक वचन ***है*** रूप प्रधान रूप है, जैसे ***कछु काम है*** (गोकुल० २०-१४)। अवधी रूप के निम्नलिखित रूपान्तर पूर्वी लेखकों में पाए जाते हैं किन्तु इनका प्रयोग अधिक नहीं हुआ है : ***अहै*** (तुल० क० २-६, दास १६-३), ***आहि*** (नन्द० १-१०६; घन० १९) तथा ***आही*** (नंद० ५-६९) जो छंद की विशेष आवश्यकता के कारण है।

अवधी रूप का प्रयोग छन्द की सुविधा के कारण हो सकता है, क्योंकि इसमें तीन मात्राएँ पाई जाती हैं, जब कि व्रज के *है* रूप में केवल दो हैं।

प्रथम पुरुष बहुवचन *हैं* के रूपान्तर नहीं होते हैं, जैसे *उरहन लै आवति हैं सिगरी* (सू० म० ६)।

प्राचीन व्रजभाषा में निम्नलिखित रूप भी पाए जाते हैं किन्तु ये वर्तमान संभावनार्थ में प्रयुक्त होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	हौ, हौउँ, होहुँ	होहिं
मध्यम पुरुष	होय	होहु
प्रथम पुरुष	होय, होई, होइ	होहिं

उदाहरण के लिए, *पाहन हौ तो वही गिरि को* (रस० १), *देशादि के ऊपर आसक्ति न होय* (गोकुल० ८-२०)। *होई* रूप तुक के कारण है, जैसे केशव ३-७।

उपर्युक्त रूप *-गो* (पुंल्लि०)*-गी* (स्त्री०) इत्यादि प्रत्ययों के साथ पश्चिमी लेखकों में अधिक प्रचलित हैं किंतु उनमें भविष्य के अर्थ का बोध होता है, जैसे *मुकुरु होहुगे नैक मैं* (विहा० ७९), *तुम नें कह्यौ होयगो* (गोकुल० ३५-२०), *तिनके गुरु की कहा बात होयगी* (गोकुल० २०-२)।

वर्ग २

२२६. दूसरे संयोगात्मक रूप ह भविष्य के नाम से प्रसिद्ध भविष्य निश्चयार्थ के हैं। इनका प्रयोग पूर्व के कुछ जिलों तक ही सीमित है। मैनपुरी, फर्रुखाबाद, पीलीभीत, कानपुर में निम्नलिखित रूप प्रयुक्त होते हैं

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	हुइहौं	हुइहैं
मध्यम पुरुष	हुइहै	हुइहौ
प्रथम पुरुष	हुइहै	हुइहैं

इटावा में उपर्युक्त रूप प्रयुक्त होते हैं किन्तु उनमें मध्य *-ह-* नहीं मिलता (§ ११४)। शाहजहाँपुर में मध्य *-ह-* के लोप होने के साथ ही अन्त्य *-औ, -ऐ* क्रमशः *-अउ* तथा *-अइ* हो जाते हैं (§ ९७), इस प्रकार निम्नलिखित रूप प्रयुक्त होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	हुइअउँ	हुइअइँ
मध्यम पुरुष	हुइअइ	हुइअउ
प्रथम पुरुष	हुइअइ	हुइअइँ

प्राचीन व्रज में निम्नलिखित रूप प्रयुक्त होते हैं किन्तु उनका प्रयोग अधिकतर पूर्वी लेखकों, अथवा बाद के लेखकों में मिलता है।

अन्य क्रियाओं की भाँति इस क्रिया का पुल्लिग उत्तम पुरुष बहुवचन रूप स्त्रीलिंग रूप का स्थान लेता जा रहा है। अलीगढ़ में अंत्य *-ओ* का उच्चारण *-औ* की भाँति होता है (§ ९३)। यह रूप कभी कभी मथुरा में भी पाया जाता है जहाँ दूसरा रूप *हेँयगो* मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष एकवचन में पाया जाता है।

दक्षिण में (पू० ज०, धौ०, प० ग्वा० तथा म० में भी) उपर्युक्त रूपों का उच्चारण निम्नलिखित प्रकार से होता है :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	*हेँगो* (स्त्री० *-गी*)	*हेँगे* (स्त्री० *-गीं*)
मध्यम पुरुष	*होगो* (स्त्री० *-गी*)	*होंगे* (स्त्री० *-गीं*)
प्रथम पुरुष	*होगो* (स्त्री० *-गी*)	*होंगे* (स्त्री० *-गीं*)

आगरा में भी उपर्युक्त रूप प्रयुक्त होते हैं किन्तु अंत्य *-ओ* के स्थान पर *-औ* पाया जाता है।

२२५. प्राचीन ब्रज भाषा में निम्नलिखित मुख्य रूप होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	*हौं, हों, हूँ*	*हैं*
मध्यम पुरुष	*है*	*हौ*
प्रथम पुरुष	*है*	*हैं*

उत्तम पुरुष एकवचन रूप हौं सर्वाधिक प्रचलित है, जैसे *मथुरा जाति हौं* (सू० म० १)।

हों तथा *हूँ* रूप बहुत कम प्रयुक्त होते हैं, इनका प्रयोग गोकुलनाथ (जैसे १५-९, ३२-३) तक ही सीमित है। सेना० ३२ में *हौ* कदाचित् छापे की भूल के कारण है।

उत्तम पुरुष बहुवचन में *हैं* प्रचलित रूप है, जैसे *देखे हैं अनेक ब्याह* (तुलसी० क० १-१५)। अवधी रूप *आहीं* बहुत कम तथा कुछ ही लेखकों में पाया जाता है, जैसे *हम आहीं* (लाल० १९-२)।

मध्यम पुरुष एकवचन *है* रूप का प्रयोग समस्त लेखकों के द्वारा हुआ है, जैसे *तू है* (सू० म० ७)।

संस्कृत तत्सम रूप *असि* बहुत कम मिलता है, जैसे *कासि कासि* (नन्द० २-४९)।

मध्यम पुरुष बहुवचन *हौ* रूप के विशेष रूपान्तर नहीं होते, जैसे *बहुत अचगरी करत फिरत हौ* (सू० म० २)। हिन्दी *हो* रूप बहुत कम पाया जाता है, जैसे *ना हो हमारे* (घन० १८)। गोकुलनाथ (४२-१८) में *हौं* रूप पाया जाता है, किन्तु यह कदाचित् असावधानी के कारण है।

प्रथम पुरुष एक वचन *है* रूप प्रधान रूप है, जैसे *कछु काम है* (गोकुल० २०-१४)। अवधी रूप के निम्नलिखित रूपान्तर पूर्वी लेखकों में पाए जाते हैं किन्तु इनका प्रयोग अधिक नहीं हुआ है : *अहै* (तुल० क० २-६, दास १६-३), *आहि* (नन्द० १-१०६; घन० १९) तथा *आही* (नंद० ५-६९) जो छंद की विशेष आवश्यकता के कारण है।

उत्तम पुरुष वहुवचन में पुल्लिग रूप **हे** स्त्रीलिंग रूप **हीं** का स्थान लेता जा रहा है, जैसे **हम हुआँ हे** रूप **हम हुआँ हीं** की अपेक्षा अधिक प्रचलित है।

कुछ दक्षिणी प्रदेश (क०, पू० ज०, कभी कभी व० में भी) हकारहीन रूप नियमित रूप से पाए जाते हैं (§ ११४)।

कुछ क्षेत्रों (आ०, अ०, धौ०, प० ग्वा०, शा०, फ०, ह०) में निम्नलिखित रूप प्रयुक्त होते हैं :

	एकवचन	वहुवचन
पुल्लिग	*हतो*	*हते*
स्त्रीलिंग	*हती*	*हतीं*

अलीगढ़ में पुल्लिग वहुवचन रूप **हते** का उच्चारण कभी कभी **हतै** (§ ९२) की भांति होता है।

मैनपुरी तथा इटावा में उपर्युक्त रूप विना हकार के प्रयुक्त होते हैं (§ ११४)।

पूर्वी सीमान्त जिलों में (नियमित रूप से का० तथा कभी कभी ह०, शा० में) भूतकालिक कृदन्त के स्थान पर भूत निश्चयार्थ के अर्थ में निम्नलिखित रूप प्रयुक्त होते हैं। मूलकाल होने के कारण उनमे लिंग के कारण भेद नहीं होते हैं :

	एकवचन	वहुवचन
उत्तम पुरुष	**रहौं**	**रहइँ**
मध्यम पुरुष	**रहइ**	**रहउ**
प्रथम पुरुष	**रहइ**	**रहइँ**

धौलपुर तथा मैनपुरी में उत्तम पुरुष एकवचन **रहे**, वहुवचन **रहैं** रूप कभी कभी कहानियों मे, विशेषतया कहानी के प्रारंभ में मिलते हैं, जैसे **एक ठाकुर रहे, गरमी के दिन रहैं** (धौ०)। इन विलक्षणताओं का कारण इस क्षेत्र में पूर्वी हिंदी प्रदेश मे इन कहानियों का प्रारंभ में आना हो सकता है।

२३१. प्राचीन व्रज में भूतकालिक कृदन्त के निम्नलिखित रूप होते हैं। इनका प्रयोग भूत निश्चयार्थ के अर्थ में भी होता है।

	एकवचन	वहुवचन
पुल्लिग	*हो, हौ; हुतो हुतौ*	*हे; हुते*
स्त्रीलिंग	*ही, हुती*	—

पुल्लिग एकवचन के समस्त रूपों में **हो** सर्वाधिक प्रचलित रूप है, जैसे **मैं हो जान्यौ** (विहा० ६४)। **हौ** रूप वहुत कम पाया जाता है (गोकुल० ४०-१९)। दूसरा प्रचलित रूप **हुतो** है, जैसे **आयो हुतो नियरे** (रस० ४७)। **हुतौ** रूप अपेक्षाकृत कम पाया जाता है (सेना० २५)।

पुल्लिग वहुवचन रूप **हे** (लल्लू० ८-५), और **हुते** (गोकुल० २-११) वरावर ही प्रयुक्त होते हैं। खड़ीवोली हिन्दी रूप **थे** एक दो स्थानों पर मिलता है। उदाहरणार्थ घनानंद ६ में **थाके थे विकल नैना** अनुप्रास के लिए प्रयुक्त हुआ है।

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	ह्वैहौं	ह्वैहैं
मध्यम पुरुष	ह्वैहै	ह्वैहौ
प्रथम पुरुष	ह्वैहै, होइहै	ह्वैहैं

उदाहरण के लिए : *ह्वैहौं न हँसाइ कै* (तु० क० २-९), *दर पुस्तनि ह्वैहै नृप भारी* (लाल० ७-१६)।

वर्ग ३

२२७. आधुनिक ब्रज में मध्यम पुरुष एकवचन **हो** तथा बहुवचन **होउ** विना किसी रूपान्तर के समस्त क्षेत्र में वर्त्तमान आज्ञार्थ में प्रयुक्त होते हैं, जैसे *तू राजा हो, तुम राजा होउ।*

प्राचीन ब्रज में **हो** तथा **होहु** मध्यम पुरुष में क्रमशः एकवचन तथा वहुवचन के रूप होते हैं, जैसे *देखहु होहु सनाथ* (नरो० ९९), *आतुर न होहु* (घन० ९)।

कृदन्ती रूप

२२८. वर्त्तमान कालिक कृदन्त के रूप तथा उनके प्रयोग मुख्य क्रिया से भिन्न नहीं होते हैं (§ २१७)।

भूत संभावनार्थ

२२९. आधुनिक तथा प्राचीन दोनों ही ब्रज भाषाओं में निम्नलिखित रूप भूत संभावनार्थ की भाँति प्रयुक्त होते हैं।

	एकवचन	बहुवचन
पुंल्लिग (सभी पुरुषों में)	होतो, होतौ	होते
स्त्रीलिंग (सभी पुरुषों में)	होती	होतीं

उदाहरण के लिए, *मैं हुआँ होतो, तौ आय जातो। श्रीनाथ जी को सिंगार होतौ* (गोकुल० १४-१८); *अजू होती जो पियारी* (पद्० १५-६२)।

भूतकालिक कृदन्त

२३०. अन्य क्रियाओं के समान **होनो** क्रिया के भूतकालिक कृदन्त के रूप भूत निश्चयार्थ की भाँति प्रयुक्त होते हैं।

अधिकांश उत्तरी-पूर्वी जिलों में (बरे०, ए०, ब०, पी०) में निम्नलिखित रूप होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
पुंल्लिग	हो	हे
स्त्रीलिंग	ही	हीं

मथुरा, बुलंदशहर तथा भरतपुर में पुंल्लिग एकवचन रूप **हौ** है (§ ९३); अन्य रूप उपर्युक्त रूपों की भाँति ही होते हैं।

उत्तम पुरुष बहुवचन में पुल्लिंग रूप *हे* स्त्रीलिंग रूप *हीं* का स्थान लेता जा रहा है, जैसे *हम हुआँ हे* रूप *हम हुआँ हीं* की अपेक्षा अधिक प्रचलित है।

कुछ दक्षिणी प्रदेश (क०, पू० ज०, कभी कभी व० में भी) हकारहीन रूप नियमित रूप से पाए जाते हैं (§ ११४)।

कुछ क्षेत्रों (आ०, अ०, धौ०, प० ग्वा०, शा०, फ०, ह०) में निम्नलिखित रूप प्रयुक्त होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
पुल्लिंग	*हतो*	*हते*
स्त्रीलिंग	*हती*	*हतीं*

अलीगढ़ में पुल्लिंग बहुवचन रूप *हते* का उच्चारण कभी कभी *हतै* (§ ९३) की भाँति होता है।

मैनपुरी तथा इटावा में उपर्युक्त रूप बिना हकार के प्रयुक्त होते हैं (§ ११४)।

पूर्वी सीमान्त जिलों में (नियमित रूप से का० तथा कभी कभी ह०, शा० में) भूतकालिक कृदन्त के स्थान पर भूत निश्चयार्थ के अर्थ में निम्नलिखित रूप प्रयुक्त होते हैं। मूलकाल होने के कारण उनमें लिंग के कारण भेद नहीं होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	*रहौं*	*रहइँ*
मध्यम पुरुष	*रहइ*	*रहउ*
प्रथम पुरुष	*रहइ*	*रहइँ*

धौल्पुर तथा मैनपुरी में उत्तम पुरुष एकवचन *रहे*, बहुवचन *रहैं* रूप कभी कभी कहानियों में, विशेपतया कहानी के प्रारंभ में मिलते हैं, जैसे *एक ठाकुर रहे, गरमी के दिन रहैं* (धौ०)। इन विलक्षणताओं का कारण इस क्षेत्र में पूर्वी हिंदी प्रदेश से इन कहानियों का प्रारंभ में आना हो सकता है।

२३१. प्राचीन व्रज में भूतकालिक कृदन्त के निम्नलिखित रूप होते हैं। इनका प्रयोग भूत निश्चयार्थ के अर्थ में भी होता है।

	एकवचन	बहुवचन
पुल्लिंग	*हो, हौ; हुतो हुतौ*	*हे; हुते*
स्त्रीलिंग	*ही, हुती*	—

पुल्लिंग एकवचन के समस्त रूपों में *हो* सर्वाधिक प्रचलित रूप है, जैसे *मैं हो जान्यौ* (विहा० ६४)। *हौ* रूप बहुत कम पाया जाता है (गोकुल० ४०-१९)। दूसरा प्रचलित रूप *हुतो* है, जैसे *आयो हुतो नियरे* (रस० ४७)। *हुतौ* रूप अपेक्षाकृत कम पाया जाता है (सेना० २५)।

पुल्लिंग बहुवचन रूप *हे* (लल्लू० ८-५), और *हुते* (गोकुल० २-११) बराबर ही प्रयुक्त होते हैं। खड़ीबोली हिन्दी रूप *थे* एक दो स्थानों पर मिलता है। उदाहरणार्थ घनानंद ६ में *थाके थे विकल नैना* अनुप्रास के लिए प्रयुक्त हुआ है।

स्त्रीलिंग एकवचन में *हीं* तथा *हुतीं* दोनों रूप समानतया प्रचलित हैं, जैसे *निदरत ही* (सूर० य० १५), *कामरी फटी सी हुती* (नरो० ९५)।

स्त्रीलिंग बहुवचन के संभावित रूप *हीं, हुतीं* के उदाहरण नहीं मिल सके। यदि ये प्रयुक्त भी हुए होंगे तो बहुत कम।

सूचना—आधुनिक रूप *हतो, हते, हती* नियमित रूप से २५२ वार्ता में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे ९४-३, ९६-२२, *हती* रूप लाल (३६-३) में भी मिलता है।

निम्नलिखित रूपों का प्रयोग भी भूत निश्चयार्थ के अर्थ में ही होता है किन्तु वे *हुआ* इत्यादि अर्थ में प्रयुक्त होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
पुल्लिग	*भयो, भयौ; भो, भौ*	*भये*
स्त्रीलिंग	*भई*	*भईं*

पुल्लिग एकवचन *भयो* तथा *भयौ* दोनों ही रूपों का प्रयोग बराबर होता है, जैसे *रङ्क तें राउ भयो तब हीं* (नरो० ४१, देव ३-४१)। *भो* (नरो० ३१) तथा *भौ* (मति० १५) रूप अपेक्षाकृत कम प्रयुक्त होते हैं तथा अवधी प्रभाव के कारण हो सकते हैं (दे० तुलनार्थ अव० *भा*)।

पुल्लिग बहुवचन *भये* के रूपान्तर नहीं होते, जैसे *प्रसन्न भये* (गोकुल० ६-२०)।

स्त्री० एकवचन *भई* तथा बहुवचन *भईं* के भी कोई रूपान्तर नहीं होते, जैसे *गति मति भई तनु पंग* (सू० य० ९), *बावरी भईं बृज की वनिता* (दे० ३-४५)।

२३२. भूत निश्चयार्थ में *हो* रूप व्रज क्षेत्र के बाहर केवल मेवाती और मारवाड़ी में ही पाए जाते हैं।

हतो रूप (केवल *तो* इत्यादि में भी परिवर्तित) बुन्देली और गुजराती तक सीमित है। मराठी में *होतों* इत्यादि, मालवी, अहीरवारी, जौनसरी में *थो* इत्यादि; और निमाड़ी, खड़ीवोली में *था* इत्यादि (वैकल्पिक रूप से पंजाबी तक में) या पाए जाते हैं; तुलनार्थ दे० नैपाली *थियें* इत्यादि, उड़िया *थिली* इत्यादि और लहन्दा *थिउसे* इत्यादि।

रह रूप जो कुछ पूर्वी सीमान्त जिलों में पाए जाते हैं, पूर्वी हिंदी बोलियों और भोजपुरी के सामान्य रूप हैं। ये वैकल्पिक रूप से अन्य पूर्वी भाषाओं में भी पाये जाते हैं।

सहायक क्रिया का *ह* रूप (वर्त्तमान निश्चयार्थ *हौं, हूँ* इत्यादि) हिन्दी की अन्य बोलियों (पश्चिमी खड़ीबोली में *स*– रूप और अवधी में *अह*– रूप अधिक प्रचलित हैं), राजस्थानी की मेवाती, मारवाड़ी, मालवी आदि बोलियों तक फैला हुआ है। सिंधी लहंदा, पंजाबी, मगही, नैपाली में यह वैकल्पिक रूप से पाया जाता है; इन प्रदेशों में इसके सामान्य रूप भिन्न होते हैं। तुलनार्थ दे० पश्चिमी खड़ीबोली और जौनसरी के रूप *स*– या *ओस*–।

कुछ पूर्वी जिलों तक ही सीमित वर्त्तमान काल में प्रयुक्त व्रज रूप *हौंगो* इत्यादि साधारणतया केवल पंजाबी में ही पाए जाते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि ये रूप बिल्कुल अलग पूर्वी व्रज क्षेत्र में किस प्रकार पहुँच गए हैं। इसी प्रकार *हतौं* इत्यादि

सामान्यतया दक्षिण में पाए जाने वाले रूप किसी भी आधुनिक भारतीय आर्य भाषा में नहीं पाए जाते। ये *ह* रूप भूतकाल में प्रयुक्त कुछ अन्य रूपों के आधार पर बने जान पड़ते हैं।

संयुक्त क्रिया

२३३. क्योंकि अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के समान व्रज में संयोगात्मक कालों की संख्या अत्यंत सीमित है अतः क्रिया के अनेक अर्थों को व्यक्त करने के लिए बहुधा दो तथा कभी कभी तीन तीन क्रियाओं का एक साथ प्रयोग व्रज में किया जाता है। संयुक्त क्रियाओं में प्रधान क्रिया का *होनो* सहायक क्रिया के साथ संयोग अत्यधिक प्रचलित है, इसलिए इसका वर्णन अलग से नीचे किया गया है।

अ—प्रधान क्रिया सहायक क्रिया के साथ

१. क्रिया का वर्त्तमान कालिक कृदन्त सहायक क्रिया के वर्ग १ के रूपों के साथ

२३४. इस बात का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है कि वर्ग १ के रूपों का प्रयोग कुछ परिस्थितियों में वर्त्तमान निश्चयार्थ के समान होता है (§ २१२)। साधारणतया प्राचीन तथा आधुनिक व्रज में वर्त्तमान (अपूर्ण) निश्चयार्थ के लिए क्रिया का वर्त्तमानकालिक कृदन्ती रूप सहायक क्रिया के वर्ग १ के रूपों के साथ प्रयुक्त होता है : *मैं चलत हौं, वर्णत हौं* (केशव १, २१)। वर्त्तमान काल में कार्य निरंतर रूप से हो रहा है। इस भाव के द्योतक के लिए *रह्* धातु का भूतकालिक कृदन्त प्रधान क्रिया के पूर्वकालिक कृदन्त के रूप तथा सहायक क्रिया के वर्ग १ के रूपों के साथ प्रयुक्त होता है : *मैं चल रहो हौं*।

बु०, भ०, पू० ज० में सामान्य रूप से और कभी कभी मथु०, करौ० में वर्तमानकालिक कृदन्त में सहायक क्रिया नहीं जोड़ी जाती, बल्कि मूलक्रिया के वर्ग १ के रूपों में जोड़ते हैं। उदाहरण के लिए बुलंदशहर में निम्नलिखित रूप हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	*चलूँ हूँ*	*चलैं हैं*
मध्यम पुरुष	*चलै है*	*चलौ हौ*
प्रथम पुरुष	*चलै है*	*चलैं हैं*

समस्त व्रजप्रदेश में क्रिया के वर्तमानकालिक कृदन्त के रूप कभी कभी सहायक क्रिया *हो–* के वर्ग १ के रूपों के साथ वर्त्तमान (अपूर्ण) संभावनार्थ में प्रयुक्त होता है : *अगर मैं झूठ कहित होउँ तौ मर जाओँ*। किंतु आजकल इन संयुक्त रूपों का प्रयोग कम होता है। *हो–* के स्थान पर *ह–* सहायक क्रिया के वर्ग १ के रूपों का प्रयोग कुछ अधिक होने लगा है : *अगर मैं झूठ कहित हौं तौ मर जाओं*।

सहायक क्रिया का प्रधान क्रिया के वर्ग १ के रूपों के साथ संयोग गुजराती, राजस्थानी, गुर्जरी, कुमायूँनी तथा खड़ीबोली में भी मिलता है। शेष समस्त आधुनिक भाषाओं में साधारणतया सहायक क्रिया प्रधान क्रिया के वर्त्तमानकालिक कृदन्त के साथ संयुक्त की जाती है।

२. क्रिया का वर्त्तमानकालिक कृदन्त सहायक क्रिया के भूतकालिक कृदन्त के साथ

२३५. क्रिया का वर्त्तमानकालिक कृदन्त सहायक क्रिया के भूतकालिक कृदन्त के साथ भूत (अपूर्ण) निश्चयार्थ के लिए प्रयुक्त होता है अर्थात् इस भाव का द्योतन करता है कि कार्य भूतकाल में समाप्त नहीं हुआ : *बौ चलत हो। आप पाक करते हुते* (गोकुल० ८, ११)। यह रूप प्राचीन ब्रज में तथा आधुनिक ब्रज प्रदेश के अधिकांश भाग में प्रयुक्त होता है। बुलंदशहर, भरतपुर तथा पूर्व जयपुर में सहायक क्रिया के रूप प्रधान क्रिया के –ऐ अन्तवाले रूप के साथ मिला कर भी उपर्युक्त काल के लिए साथ साथ प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ बुलंदशहर में निम्नलिखित रूप व्यवहृत होते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
पुंल्लिग (समस्त पुरुषों में)	*चलै हौ*	*चलै हे*
स्त्रीलिंग (,, ,,)	*चलै ही*	*चलै हीं*

प्रधान क्रिया के वर्त्तमानकालिक कृदन्त के साथ सहायक क्रिया के भूतकालिक कृदन्त को जोड़ कर भूत निश्चयार्थ के लिए प्रयोग करना लगभग समस्त आधुनिक भाषाओं में पाया जाता है। कुमायूँनी, जौनसरी, गुर्जरी, जयपुरी, मेवाती, मारवाड़ी तथा खड़ीबोली में (अंतिम दो में वैकल्पिक रूप से) प्रधान क्रिया का *–ए* रूप वर्त्तमानकालिक कृदन्त के स्थान पर प्रयुक्त होता है।

३. क्रिया का भूतकालिक कृदन्त सहायक क्रिया के वर्ग १ के रूपों के साथ

२३६. प्राचीन तथा आधुनिक ब्रज में उपर्युक्त संयुक्त क्रिया से वर्त्तमान पूर्ण निश्चयार्थ अर्थात् वर्त्तमान काल में कार्य समाप्त होने का भाव प्रकट होता है : *मैं चलो हौं। हम पढ़े एक साथ हैं* (नरो० ९)।

क्रिया का भूतकालिक कृदन्त सहायक क्रिया *हो* के वर्ग १ के रूपों के साथ समस्त ब्रज प्रदेश में वर्त्तमान पूर्ण संभावनार्थ के लिए प्रयुक्त होता है : *अगर मैं झूट बोलो होउँ।* यहाँ भी व्यवहार में सहायक क्रिया *ह*—के वर्ग १ के रूप अधिक प्रयुक्त होने लगे हैं : *अगर मैं झूट बोलो हौं* इत्यादि।

लगभग समस्त आधुनिक आर्यभाषाओं में उपर्युक्त अर्थों में इसी प्रकार क्रिया तथा सहायक क्रिया के रूपों का प्रयोग होता है।

४. क्रिया का भूतकालिक कृदन्त सहायक क्रिया के भूतकालिक कृदन्त के साथ

२३७. उपर्युक्त संयुक्त क्रिया से प्राचीन तथा आधुनिक व्रज में भूत पूर्ण निश्चयार्थ अर्थात् भूतकाल में कार्य के समाप्त हो जाने का भाव प्रकट होता है: *वो चलो हो, मैं हो जान्यो* (विहा० ६४)।

इस बात का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है कि साधारण भूत निश्चयार्थ का भाव केवल भूतकालिक कृदन्त से प्रकट होता है (§ २१९)।

लगभग समस्त आधुनिक भाषाओं में सहायक क्रिया का भूतकालिक कृदन्त इसी प्रकार क्रिया के भूतकालिक कृदन्त के साथ प्रयुक्त होता है।

क्रिया के कृदन्ती रूपों का सहायक क्रियाके वर्तमानकालिक कृदन्त अथवा वर्ग २ के रूपों के साथ संयोग व्रज प्रदेश में प्रचलित नहीं है। नगरों में खड़ीबोली के अनुकरण में व्रज में भी कभी कभी इस प्रकार के रूप प्रयुक्त होते हैं। अतः इनको साधारण व्रजभाषा के रूप मानना उचित नहीं होगा।

आ—दो प्रधान क्रियाओं का संयोग

२३८. प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही व्रज भाषाओं में अनेक अर्थों को व्यक्त करने के लिए दो प्रधान क्रियाओं का संयोग अत्यन्त प्रचलित है। किन्तु प्राचीन की अपेक्षा आधुनिक व्रज में ऐसे संयुक्त रूप अधिक मिलते हैं। मुख्य क्रिया के रूप के अनुसार उनका वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है:

(क) धातु के साथ

चलनो : *गेर चलुगो* (बु०)
चुकनो : *चल चुक्यौ* (म०)
देनो : *चल दए; मार दए; डाद् दौं* (धौ०) *बेच दई* (बु०); *खोल दै* (फ०); *कर दा* (बु०)
जानो : *लौट जाएँ; आ गो* (ग्वा०), *भाज गयो* (बु०)
सकनो : *चल सकनो* (अली०)

(ख) क्रियार्थक संज्ञा के मूल रूप के साथ:

चाहनो : *देखनो चइऐ*
करनो : *जैवो करै* (धौ०), *रोइवो करैं* (धौ०)
पड़नो : *सुनानो पड़ैगो* (क०)

(ग) क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप के साथ:

देनो : चलन देओ; *आमन देओ* (आने दो) (म०), जान *दीन्हें* (सूर० म० २)
लगनो : *होन लगे* (पी०); *खान लगो; चलन लगो, कटन लग्यै* (लाल० ६-७०); *देन लगी* (लाल ७-१२);

पलटन लगे (पद्० ६-२४); न्हान लागीं (सूर० म० ९); बरसन लगे (तुलसी गी० ६-४)

पाउनो : चलन पावै (वु०)

(घ) भूतकालिक कृदन्त के साथ :

आउनो : चल्यौ आयौ (भ०)

चाहनो : मुद्यो चहत (दास० १५-६७) चुग्यौ चाहतु (लल्लू० ८-२४)

देनो : दए देत

जानो : बए जात हैं; रई (रही) जात है; ना बखानी काहू पै गई (केशव १, २)

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि यह ब्रज का नियमित कर्मवाच्य का रूप है, दे० § २०९।

करनो : चल्यो करै (भ०); चलो कत्तु (म०) देख्यो कर्यो (क०); सुखओ कत्त (ए०)

रहनो : खड़े राउ (खड़े रहो); पड़ो रओ; देखे रहियो (सूर० म० पृ० २७७)

(ङ) वर्त्तमानकालिक कृदन्त के साथ :

जानो : परति जाति (पद्० ४-१५)

पाउनों : चलत पाए (सूर० म० ५)

फिरनो : खेलत फिरैं (तुलसी क० २७)

रहनो : करत रहत (सूर० म० २); चलतु रहितु (आ०)

(च) पूर्वकालिक कृदन्त के साथ :

आउनो : लै आओ; लै आईं (सूर० म० ५); निकसि आईं (सूर० म० २)

चलनो : लै चली (सूर० म० २)

देनो : दै दई; धरि दे (सूर० म० १३)

होनो : चलि भए (धौ०)

जानो : भजि गये (ए०); हुइ गओ; आए जा; आय गई (सूर० म० ४); चमकि गए (सूर० म० २); सूखि गये (तुलसी० क० २-११); गड़ि जात (पद्म० ३-१२)

करनो : आनि कै (तुलसी क० १-१०)

लेनो : खाए लै; बुलाए लियो (सूर० म० ८); घेरि लियो (घन० ३); सताए ले (दास० १३-५८); लूट लए (पद्म० ६-२२); देख लीजतु (देव० १-२८), निबेरि लेहु (सूर० ५-२१)

निकरनो : आय निकर्यो (भर०)
पड़नो : जानि पड़त (पद्म० ६-२७)
पाउनो : धरि पाए (सूर० म० ४)
रहनो : लगि रए हैं; जाय रए; चाहि रही (सूर० म० ३); गोइ रही (सूर० म० ८)
सकनो : चलि सकत (सूर० म० १५); कहि सकत (पद्म० ६-२४); लै सके (लल्लू० २-२४)

इ—तीन क्रियाओं के संयुक्त रूप

२३९. (क) **दो क्रियाओं तथा एक सहायक क्रिया का संयोग**—ये संयुक्त रूप उपर्युक्त दो प्रधान संयुक्त क्रियाओं के साथ (§ २३८), सहायक क्रिया के संयोग से बनते हैं : *वौ पढ़ सकत है; वौ जाय सकत हो।*

(ख) **तीन प्रधान क्रियाएँ**—तीन प्रधान क्रियाओं का संयोग बहुत कम होता है :

चलो जाओ करै (इ०); *लै लेन देओ* (इ०); *रोए देवौ करैं* (धौ०); *ले आइवो करैं* (धौ०)।

१०. अव्यय

क्रियाविशेषण

२४०. ब्रजभाषा में प्रयुक्त क्रियाविशेषण के रूप संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण अथवा पुराने क्रियाविशेषणों के आधार पर बने हैं। इनमें सर्वनामों के आधार पर बने क्रिया विशेषणों का प्रयोग अधिक मिलता है। इनमें रूपान्तर आधुनिक ब्रज में तो प्रादेशिक हैं तथा प्राचीन ब्रज में छन्द की आवश्यकता के कारण होते हैं।

कालवाचक

२४१. निम्नलिखित कालवाचक क्रियाविशेषण आधुनिक तथा प्राचीन दोनों ब्रज भाषाओं में अधिक प्रयुक्त होते हैं :

अब; *आगे*; *आगै* (लल्लू० १२-१३); *आगैं* (विहा० ३८); *आज*; *आजु* (विहा० २२, रस० ८); *जब*; *जौ लौं*; *कब*; *फिर*; *फेर* (बु०, इ०, पू० ज०); *फिरि* (विहा० २६); *पीछे*; *पाछे* अथवा *पाछें* (गोकुल० २-१३, ४-९), *तब*; *तौ*; *तउ* (शा०), *तौ लौं*।

निम्नलिखित उदाहरण विशेष रूप से आधुनिक ब्रज में पाए जाते हैं :

अगार (मैं०); *अगेला* (ए०, व०), *हाल* (आ०); *होहर* (मैं०); *जल्दी*; *झट्ट*; *पिछार* (मैं०); *तुरन्त*; *तुत्त* (इ०)।

निम्नलिखित उदाहरण प्राचीन ब्रज में पाए जाते हैं। इनमें से अधिकांश संस्कृत शब्द हैं :

अगत्रई (नरो० २०), *छिन* (रस० १२); *छिनु* (विहा० ३०); *छिनकु* (विहा० १२); *जद* (लल्लू० १३-२४); *ज्यौं* (लल्लू० १०-२६) *कैवा* (विहा० १६), *नित* (सूर० म० १०) *पुनि* (नन्द० १-११४); *सदा* (पद्म० १-१), *सदाँ* (देव० ३-१०), *तद* (लल्लू० १२-१५)।

स्थानवाचक

निम्नलिखित स्थानवाचक क्रियाविशेषण प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही ब्रज भाषाओं में पाए जाते हैं :

अन्त (भ०); *अनत* (सूर० म० १२); *आगे*; *आस पास*; *बाहिर*; *भीतर*; *ढिंग*; *उहाँ* (सूर० म० ९-११४); *जहाँ*, *कहाँ*; *नीचे*; *पाछे*; *पीछें* (धौ०); *पाछे* (सूर० म० १३); *सामने*; *तहाँ*; *तहँ* (नन्द० १-१४); *ऊपर*।

निम्नलिखित रूप विशेषतया प्राचीन ब्रज में मिलते हैं :

अनु (नन्द० म० १-८४); *इत* (सूर० य० १६); *जित* (देव० ४-१४), *कित*

(सेना० २-१८); *तित* (देव ४-१८), *उत* (पद्म० १०-४४); *निकट* (गोकुल० ५-१०); *सामुहे* (सूर० म० ८)।

निम्नलिखित रूप मुख्यतया आधुनिक ब्रज में पाए जाते हैं:

हिंयाँ (यहां) के अनेक रूपान्तर पाए जाते हैं, जैसे *हिँयन* (व०), *याँ* (म०), *म्हाँ* (प० ग्वा०), *जाँ* (इ०)। इसी प्रकार *हुआँ* (वहाँ) के भी अनेक रूप मिलते है, जैसे *हुअन* (व०), *वाँ* (आ०), *वाँ, माँ, म्हाँ* (पू० ज०), *महाँ* (भ०), *ह्वाँ* (बु०)।

कुछ अन्य विशेष क्रियाविशेषण नीचे दिए जाते है: *वित* (भ०), *धोरे* (बु०); *जौंरे* (व०); *कोहाँ* (बु०); *खाँ* (कहाँ) (पू० ज०); *नजदीक; पल्लँग; उल्लँग*।

रीतिवाचक

२४३. प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ब्रजों में पाए जाने वाले रीतिवाचक क्रिया विशेषण निम्नलिखित हैं:

ऐसे; ऐसें (लल्लू० २-१८), *वैसे, धीरे, जैसे, जैसें* (नन्द० १-८८); *कैसे, केसे* (लल्लू० १५-१७), *तैसे, तैसें* (लल्लू० ३-२)।

विशेषतया प्राचीन ब्रज में पाए जाने वाले रूप निम्नलिखित हैं:

अजोरी (सूर० म० १४), *अस* (नन्द० १-२९), *वर* (विहा० ६७), *जस* (नन्द० १-२९), *जिमि* (रस० १०), *ज्यौँ* (दास २-१०); *ज्यौं* (विहा० ४१); *जों* (नन्द० १-७२), *जनौं, जनु* (नन्द० १-६७); *किमि* (नरो० १७); *मनौं* (नन्द० १-३); इसी प्रकार *मनौ, मनु, मानौं, त्यों; यौं* (देव ३-१०) रूप भी होते है।

आधुनिक ब्रज में निम्नलिखित विशेष शब्द मिलते हैं:

विरकुल्ल; इकिल्लो; न्यौं (प० ग्वा०); तथा *न्यूँ, नों, नुँ* (बु०)।

निषेधवाचक

२४४. *न* अथवा *नहीं* के अनेक रूप प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही ब्रज भाषाओं में पाए जाते हैं। प्राचीन ब्रज के मुख्य रूप नीचे दिए जाते हैं:

नहीं (सू० म० १), *नहिं* (नरो० १०), *नाहीं* (लल्लू० २-२२), *नाँहि* (विहा० ६), *नहिँन* (सू० म० २), *नाहिन* (नन्द० १-९९), *ना* (देव २-९), *न* (सेना० २-१)। पूर्वी रूप *जिन* (नन्द० १-९७) अथवा *जनि* (सू० म० १७) कहीं कहीं मिलता है।

आधुनिक ब्रज में निम्नलिखित रूप प्रचलित हैं: *नाँय* (व०), *नईँ* (बु०), *नाईँ* (शा०), *ना* (पू० ज०), *निँ* (क०)। *विन* (बु०) और *विदून* रूप विना के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। *मत* अथवा *मित* भी निषेध वाचक अर्थ में प्रयुक्त होता है।

कारणवाचक

२४५. प्रधान कारणवाचक क्रियाविशेषण *क्यौं* अथवा *क्योँ* और *का* है। ये प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही ब्रज में पाए जाते है। प्राचीन ब्रज में *कत* (सूर० म० १६) और *कतक* (नन्द० १-९८) क्यों के अर्थ में कहीं कहीं मिलते हैं।

१०. अव्यय

क्रियाविशेषण

२४०. ब्रजभाषा में प्रयुक्त क्रियाविशेषण के रूप संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण अथवा पुराने क्रियाविशेषणों के आधार पर बने हैं। इनमें सर्वनामों के आधार पर बने क्रिया विशेषणों का प्रयोग अधिक मिलता है। इनमें रूपान्तर आधुनिक ब्रज में तो प्रादेशिक हैं तथा प्राचीन ब्रज में छन्द की आवश्यकता के कारण होते हैं।

कालवाचक

२४१. निम्नलिखित कालवाचक क्रियाविशेषण आधुनिक तथा प्राचीन दोनों ब्रज भाषाओं में अधिक प्रयुक्त होते हैं :

अब; *आगे*; *आगै* (लल्लू० १२-१३); *आगैं* (विहा० ३८); *आज*; *आजु* (विहा० २२, रस० ८); *जब*; *जौ लौं*; *कब*; *फिर*; *फेर* (बु०, इ०, पू० ज०); *फिरि* (विहा० २६); *पीछे*; *पाछे* अथवा *पाछें* (गोकुल० २-१३, ४-९), *तब*; *तौ*; *तउ* (शा०), *तौ लौं*।

निम्नलिखित उदाहरण विशेष रूप से आधुनिक ब्रज में पाए जाते हैं :

अगार (मैं०); *अगेला* (ए०, व०), *हाल* (आ०); *होहर* (मैं०); *जल्दी*; *झट*; *पिछार* (मैं०); *तुरन्त*; *तुत्त* (इ०)।

निम्नलिखित उदाहरण प्राचीन ब्रज में पाए जाते हैं। इनमें से अधिकांश संस्कृत शब्द हैं :

अगत्रई (नरो० २०), *छिन* (रस० १२); *छिनु* (विहा० ३०); *छिनकु* (विहा० १२); *जद* (लल्लू० १३-२४); *ज्यौं* (लल्लू० १०-२६) *कैवा* (विहा० १६), *नित* (सूर० म० १०) *पुनि* (नन्द० १-११४); *सदा* (पद्म० १-१), *सदाँ* (देव० ३-१०), *तद* (लल्लू० १२-१५)।

स्थानवाचक

निम्नलिखित स्थानवाचक क्रियाविशेषण प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही ब्रज भाषाओं में पाए जाते हैं :

अन्त (भ०); *अनत* (सूर० म० १२); *आगे*; *आस पास*; *बाहिर*; *भीतर*; *ढिंग*; *उहाँ* (सूर० म० ९-११४); *जहाँ*, *कहाँ*; *नीचे*; *पाछे*; *पीछें* (धौ०); *पाछे* (सूर० म० १३); *सामने*; *तहाँ*; *तहँ* (नन्द० १-१४); *ऊपर*।

निम्नलिखित रूप विशेषतया प्राचीन ब्रज में मिलते हैं :

अनु (नन्द० म० १-८४); *इत* (सूर० म० १६); *जित* (देव० ४-१४), *कित*

(सेना० २-१८); *तित* (देव ४-१८), *उत* (पद्म० १०-४४); *निकट* (गोकुल० ५-१०); *सामुहे* (सूर० म० ८)।

निम्नलिखित रूप मुख्यतया आधुनिक व्रज में पाए जाते हैं :

हियाँ (यहां) के अनेक रूपान्तर पाए जाते हैं, जैसे *हिँयन* (व०), *याँ* (म०), *म्हाँ* (प० ग्वा०), *जाँ* (इ०)। इसी प्रकार *हुआँ* (वहाँ) के भी अनेक रूप मिलते हैं; जैसे *हुअन* (व०), *वाँ* (आ०), *वाँ, माँ, म्हाँ* (पू० ज०), *महाँ* (भ०), *ह्वाँ* (बु०)।

कुछ अन्य विशेष क्रियाविशेषण नीचे दिए जाते हैं : *वित* (भ०), *धोंरे* (बु०); *जौंरे* (व०); *कौहाँ* (बु०); *खाँ* (कहाँ) (पू० ज०); *नजदीक; पल्लँग; उल्लँग*।

रीतिवाचक

२४३. प्राचीन तथा आधुनिक दोनों व्रजों में पाए जाने वाले रीतिवाचक क्रिया विशेषण निम्नलिखित हैं :

ऐसे; ऐसें (लल्लू० २-१८), *वैसे, धीरे, जैसे, जैसें* (नन्द० १-८८); *कैसे, केसे* (लल्लू० १५-१७), *तैसे, तैसें* (लल्लू० ३-२)।

विशेषतया प्राचीन व्रज में पाए जाने वाले रूप निम्नलिखित हैं :

अजोरी (सूर० म० १४), *अस* (नन्द० १-२९), *वर* (विहा० ६७), *जस* (नन्द० १-२९), *जिमि* (रस० १०), *ज्योँ* (दास २-१०); *ज्यौँ* (विहा० ४१); *जों* (नन्द० १-७२), *जनों, जनु* (नन्द० १-६७); *किमि* (नरो० १७); *मनों* (नन्द० १-३); इसी प्रकार *मनौ, मनु, मानौं, त्यों; योँ* (देव ३-१०) रूप भी होते हैं।

आधुनिक व्रज में निम्नलिखित विशेष शब्द मिलते हैं :

विरकुल्ल; इकिल्लो; न्यौँ (प० ग्वा०); तथा *न्यूँ, नों, नुँ* (बु०)।

निषेधवाचक

२४४. *न* अथवा *नहीं* के अनेक रूप प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही व्रज भाषाओं में पाए जाते हैं। प्राचीन व्रज के मुख्य रूप नीचे दिए जाते हैं :

नहीं (सू० म० १), *नहिं* (नरो० १०), *नाहीं* (लल्लू० २-२२), *नाँहि* (विहा० ६), *नहिँन* (सू० म० २), *नाहिन* (नन्द० १-९९), *ना* (देव २-९), *न* (सेना० २-१)। पूर्वी रूप *जिन* (नन्द० १-९७) अथवा *जनि* (सू० म० १७) कहीं कहीं मिलता है।

आधुनिक व्रज में निम्नलिखित रूप प्रचलित हैं : *नाँय* (व०), *नईँ* (बु०), *नाईँ* (शा०), *ना* (पू० ज०), *निँ* (क०)। *विन* (बु०) और *विदून* रूप बिना के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। *मत* अथवा *मित* भी निषेध वाचक अर्थ में प्रयुक्त होता है।

कारणवाचक

२४५. प्रधान कारणवाचक क्रियाविशेषण *क्यौँ* अथवा *क्योँ* और *का* हैं। ये प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही व्रज में पाए जाते हैं। प्राचीन व्रज में *कत* (सूर० म० १६) और *कतक* (नन्द० १-९८) क्यों के अर्थ में कहीं कहीं मिलते हैं।

आधुनिक ब्रज में मुख्य रूपान्तर इस प्रकार हैं : *काहे, काए* (मैं०), *चैाँ* (ए०), *च्यौं* (धौ०), *कहा* (म०)।

परिमाणवाचक

२४६. प्राचीन ब्रज में पाए जाने वाले परिमाणवाचक क्रियाविशेषण निम्न-लिखित है :

केतो (नरो० २०); *कछु* (नन्द० १-२८); *कछुक* (नन्द० १-२८); *नैंक* (विहा० ७)।

उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त निम्नलिखित विशेषतया आधुनिक ब्रज में मिलते हैं :

और; अतन्त (म०), *इखट्टे* (म०), *जरा; जाधै* (व०); *जादा* (फ०); *मुतके* (वहुत) (क०), *सबरे* (भ०)।

२४७. क्रियाविशेषण मूलक वाक्यांश, विशेषतया आवृत्तिमूलक वाक्यांश भी स्वतंत्रतापूर्वक प्रयुक्त होते हैं :

कालवाचक

प्राचीन ब्रज :

वार वार (सू० म० ३); *बेर बेर* (सेना० २-१९);
छिन छिन (नन्द० १-७६); *एक समय* (गोकुल० १-१)
घरी घरी (पद्म० ७-३०); *जब जब...तब तब* (विहा० ६२),
कइयो वार (नरो० २२); *काहू समें* (लल्लू० १-३)
नित प्रति (सूर० म० ९); *फिर फिर* (सूर० म० ६)
तौ अब (पद्म० ६-२८)।

आधुनिक ब्रज में पाए जाने वाले विशेष रूप हैं :

चाँय जब; इत्ते खन (मैं०); *हरवे जरवे; जब तब*।

स्थानवाचक

प्राचीन ब्रज :

चहुँ ओर (विहा० ८४); *जित तित* (नन्द० १-२७), *जहाँ के तहाँ* (नन्द० १-३१), *कहूँ के कहूँ* (नन्द० १-२७)।

आधुनिक ब्रज :

चायँ जाँ; चायँ ताईं, जाँ ताँ।

रीतिवाचक

प्राचीन ब्रज :

ज्यौं ज्यौं.....त्यौं त्यौं (विहा० ४०)।

आधुनिक ब्रज :

चायँ जैसो

समुच्चयबोधक

२४८. नीचे ऐसे समुच्चयबोधक अव्ययों की सूची दी गई है, जिनका प्रयोग व्रजभाषा में अधिक मिलता है।

संयोजक *और* (नरो० ९); *औ* (तुलसी० क० १-२); *अरु* (रस० ३); *फेरि* (सूर० म० ६); *पुनि* (तुलसी० क० १-४)

और कई रूपान्तरों के साथ आधुनिक व्रज में पाया जाता है—*अउर, अउ* (शा०); *अरु* (मै०), *औरु* (ए०); *फिर* भी अधिक प्रयुक्त होता है।

विभाजक

प्राचीन व्रज में *कै* (पद्म० ७-२८); *की* (रस० ४); *कै...कै* (नरो० १२) रूप पाए जाते हैं।

उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त आधुनिक व्रज में: *चायँ....चाँय, नाँय....तौ* रूप मिलते हैं।

विरोधवाचक

पै (नरो० १३) रूप प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही व्रज में पाया जाता है। आधुनिक व्रज में *लेकिन* का प्रयोग भी अधिक मिलता है।

निमित्तवाचक

तौ तथा *तो* (नरो० १४) के अतिरिक्त *तो पै* (नरो० २०) और *तब* रूप क्रमशः प्राचीन तथा आधुनिक व्रज में पाए जाते हैं।

उद्देश्यवाचक

जो (नन्द० १-१०८) अथवा *जौ* (नरो० १३) प्राचीन तथा आधुनिक दोनों व्रजों में पाया जाता है। वाक्यांश *जो पै* (नरो० १४) प्राचीन व्रज में अधिक मिलता है।

संकेतवाचक

प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही व्रजों में पाए जाने वाले रूप *जो* के अतिरिक्त *जदपि* (पद्म० ९-२८) और *चायँ* क्रमशः प्राचीन तथा आधुनिक व्रज में मिलते हैं।

व्याख्यावाचक

तातै अथवा *तासै* अनेक रूपान्तरों—*तातें, तातें, तासों*— के सहित प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही व्रजों में मिलता है।

विषयवाचक

कि (लल्लू० २-१४) तथा *जो* (गोकुल० २०-१५) अधिक प्रचलित रूप हैं। आधुनिक व्रज में *कि* के मुख्य रूपांतर *अक, अकि* (व०) तथा *कै* हैं।

प्राचीन ब्रज में कुछ शब्द पद्य में मात्रापूर्ति के लिए प्रयुक्त हैं। ऐसे शब्दों में **जु, धौं** का प्रयोग अधिक हुआ है : *तिन के हेत खंभ ते प्रकटे नरहरि रूप जु लीन्हो* (सूर० वि० १४), *जानि न ऐसी चढ़ा चढ़ी मे किहि धौं कटि बीच ही लूट लई सी*। इन दो शब्दों का इस प्रकार प्रयोग प्राचीन अवधी काव्य में भी हुआ है।

निश्चयबोधक रूप

२४९. ब्रजभाषा में दो प्रकार के निश्चयबोधक रूप पाए जाते हैं, एक केवलार्थक तथा दूसरे समेतार्थक। निश्चयबोधक के चिह्नों का प्रयोग बहुत मिलता है। ये संज्ञा सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण अथवा परसर्ग आदि अनेक प्रकार के शब्दों के साथ प्रयुक्त होते हैं।

समेतार्थक

२५०. आधुनिक ब्रज में समेतार्थक निश्चयबोधक बनाने के लिए व्यंजनांत शब्दों अथवा आकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त शब्दों में **–ओ** परसर्ग जोड़ देते हैं तथा दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। इसी प्रकार एकारान्त, एकारान्त तथा ओकारान्त शब्दों में ऊ अथवा ऊँ जोड़ दिया जाता है। कभी कभी अंत्य स्वर का या तो लोप हो जाता है अथवा वह परसर्ग में जुड़ जाता है। उदाहरण के लिए **खेतिओ, मैं ऊँ** (म०), **लालो, खानो ऊ, अबो, पेड़ को ऊ।**

प्राचीन ब्रज में समेतार्थक निश्चयबोधक रूप **हू**, तथा इसी के अन्य रूपान्तर **हुँ, हूँ** तथा कभी कभी छन्द की आवश्यकता के कारण ह्रस्व रूप **हु** लगा कर बनता है। अल्पप्राण रूप ऊ बहुत कम मिलता है, जैसे *ग्यान हू* (सेना० २-३), *हौ हूँ* (पद्य० २-६), *थोरे ऊ* (लल्लू० १३-२१), *दुराये हू* (सेना० २-१०) *नन्द हु ते* (सू० म० ६)।

केवलार्थक

२५१. आधुनिक ब्रज में केवलार्थक रूप व्यंजनांत शब्दों में अथवा आकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त शब्दों में *–ऐ* अथवा *–ऐं* लगा कर बनता है और एकारान्त एकारान्त, ओकारान्त धातुओं में ई अथवा ईं लगा कर बनता है। उदाहरण के लिए *मंगियै, ध्रेई, दुइऐ, चलतै, तवै हम से ई*।

प्राचीन ब्रज में केवलार्थक रूप *ही* तथा उसके अन्य रूपान्तर *हीं, हि, ईं, ई, इ* लगा कर बनता है। उदाहरण के लिए *प्रात ही; तुम हीं पै* (सू० म० ५), *ऐसोई* (नरो० १९); *देखत ही* (पद्य० ८-३७) *तुरत हि* (सू० म० १३), *जहाँ ईं* (पद्य० ३-१३), *कर्म कौ ई* (लल्लू० ५-२३)।

परिशिष्ट १

संख्यावाचक

संख्यावाचक क्रियाविशेषण के लिए ब्रज में निम्नलिखित रूप मिलते हैं। बरेली की बोली में पाए जाने वाले रूप पहले दिए गए हैं। अन्य क्षेत्रों (ज़िलों) में पाए जाने वाले तथा प्राचीन साहित्य से प्राप्त रूप भी दे दिए गए हैं।

पूर्ण संख्यावाचक

एक, दुइ, तीन, चार, पाँच, छै, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारै, बारै, तेरै,

क्रम संख्यावाचक

विशेषणों की भाँति पूर्ण संख्यावाचक के भी लिंग के विचार से—पुंल्लिंग तथा स्त्रीलिंग—दो रूप होते हैं। स्त्रीलिंग रूप -ओ के स्थान पर -इ लगा कर बनता है। पुंल्लिंग मूल रूपों में ओ के स्थान पर ए लगा कर विकृत रूप बनाते हैं।

१. पैहलो : पहिलो (बदा०, फरु०, शाह०, पीली०, हर०, कान०);
पहलो (मैन०); पहेलो (म०);
पहलौ (आग०, अली०, बुल०, भर०);
पैलो (पू० जय०, करौ०, ए०, प० ग्वा०, इटा०);
पहिलो (सू० म० १३),
पहिली (सू० म० २३, लल्लू० ३-१८)
पहिले (सू० म० ३४, केशव १-१)
पहिलै (लल्लू० १४-२५)

२. दूसरो : दूसरो (म०, करौ०, धौ०, मैन०, ए०, बदा०, प० ग्वा०, इ०)
दुसरो (फ०, शाह०, पी०)
दूसरौ (आग०, अली०, बुल०, भर०)
दोसरो (हर०, कान०)
बियो (तु० क० ६-५३)
दूजी (लल्लू० ३-१९)
दूजे (लल्लू० १०-३)
दूजो (तु० क० १-१६)

३. तीसरो : तीसरो (म०, करौ०, धौ०, मैन०, ए०, बदा०, प० ग्वा०, इटा०)
तीसरौ (आग०, अली०, बुल०, भर०)
तिसरो (हर०, कान०, फरु०, शाह०, पीली०)
तीजी (लल्लू० ३-२०)
तीसरे (तु० क० ५-३०)

४. चौथो : चउथो (शाह०)
चउथी (लल्लू० ३-२१)

५. पाँच्मों : पाँचमों (करौ०, बदा०)
पँचँओं पाँचओ (म०, पू० जय०, प० ग्वा०)
पाँचओं (ए०)
पचयौ (आग०)
पाँचवओं (अली०)
पाचयौ (भर०)
पाँचयो (धौल०)
पँचओ (पीली०, मैन०)
पँचओं (फर्रु०, शाह०)
पाँचवीं (लल्लू० ३-२३)

छटो : छटौ (म०, आग०, अली०, बुल०, भर०)
छठो (फर्रु०, पीली०, बदा०)
छटमो (इटा०),
छठी (तुल० गी० १-५)

सात्मो : सँतओं (मैन०, पीली०)
सतओं सँतओ (म०)
सातओं (ए०, इटा०)

आठ्मो : अठओ (म०)
अठओं (मैन०, फर्रु०, शाह०, पीली०)
अठयौ (आग०)
आठ्यो (भ०); आठओ (पू० जय०, प० ग्वा०)
आठओं (ए०); आठमो (करौ०, बदा०, इटा०)
आठयो (धौल०)

नमो : नमो (म०, मैन०, प० ग्वा०)
नमओं नौमी (करौ०, बदा०)
नयओ (आग०)
नौयौ (भ०)
नौयो (धौ०)
नओ (पू० जय०)
नमओं (ए०, इटा०, फर्रु०, शाह०)
नवओ (पीली०)

१०. दस्मो : दसओँ (मैन०, ए०, फर्रु०, शाह०, पीली०)
दसओँ दसओ (म०)
दसमो (आग०, करौ०, धौ०, प० ग्वा०)
दस्मो (बदा०)
दसयो (भ०)
दसयो (पू० जय०)
दसों (इटा०)

११. ग्यारह्मो ग्यारओं (मैन०, ए०)
ग्यारह्ओं ग्यारओ (म०)
ग्यारह्मो (आग०)
ग्यारह्यौ (भ०, पू० जय०)
ग्यारहैमो (करौ०)
ग्यारहमो (धौ०, वदा०, प० ग्वा०)
ग्यारहओँ (इटा०)
गिर् हओँ (फर्रु०, शाह०, पीली०)

१० या ११ के वाद की पूर्ण संख्या साधारणतया प्रयुक्त नहीं होती। बरेली की बोली में ११ या ११ के बाद की पूर्ण संख्या बनाने के लिए पुल्लिग मूलरूप में*—मो* अथवा ओं पुल्लिग विकृत रूप में *—मे* अथवा अएँ और स्त्रीलिंग *—मी* अथवा अईं जोड़ कर बनाते हैं। ११ से ले कर १८ तक की पूर्ण संख्या में अंत्य *—ऐ* का लोप कर के प्रत्यय जोड़ते हैं, जैसे बारह्मो अथवा बारह्ओँ

अपूर्ण संख्यावाचक

निम्नलिखित अपूर्ण संख्यावाचक अधिक प्रयुक्त होते हैं :

¼ चौथ्याई चौथियाई (मैन०, वदा०, शाह०)
चौथाई (अली०, पू० जय०, ए०, प० ग्वा०)
चउथाई (भ०)
चौथारो (धौ०)
कौरा (इटा०)
कोरा (प० ग्वा०)

⅓ तिहाई तिआई (ए०)
तिहयाई (पू० जय०, मैन०, इटा०)

½ आधो आदो (ए०, प० ग्वा०)
आधो (म०, आ०, अली०, बुल०, भ०)

वि० रू० आधे
स्त्री० आधी

$\frac{3}{4}$ पौन	पौण (बुल०)
(तुल० पौनो)	पौन (पू० जय०, इटा०)
$+\frac{1}{4}$ सवा	सवा (आग०, अली०, भ०)
	तुलनार्थ सवाओ सेर (इटा०, फर्रु०, शाह०, पीली०, बदा० ए०)
	सवाओ (मैन०)
	सवायौ (धौ०)
	सवायो (अली०)
$1\frac{1}{2}$ डेढ़	डेड़ (म०)
	डेड (पू० जय०, करौ०)
	डेढ़ (आग०, धौल०, फर्रु०)
	डेढ़उ (धौल०)
	डेढ (बुल०)
	डेढ़ (भर०)
	डेड़ु (मैन०, ए०) तुल० डेओढ़ो (अली०) डेओढ़ो (बुल०)
$2\frac{1}{2}$ अढ़ाई	ढाई (म०, अली०, बुल०, भ०, पू० जय०, करौ०, धौ०, प० ग्वा०)
$+\frac{1}{2}$ साढ़े	साढ़े (म०, पू० जय०, धौ०, मैन०, ए०, प० ग्वा०, इटा०)

आवृत्तिमूलक संख्यावाचक

यह भाव प्रकट करने के लिए निम्नलिखित रूप प्रयुक्त होते हैं :

दूनो	दूनौ (आग०)
दुगूनो	दूणौ (बुल०)
	दुगुनो (फर्रु०)
तिगुनो	
चओगुनो	चौगुनी (तु० क० ५-१९)
	चौगुनो (नरो० ८२)

सौगुनी (नरो० ८२)

पँचगुनो

दोनों के लिए ब्रज में दोनौं शब्द है।

दूसरे जिलों में पाए जाने वाले रूप हैं :

दूनौं (पू० जय०); दोई (बुल०); दोऊ (म०, मै०, बदा०); विकृत रूप—दोऊन (अली०), दोउन (भर०)

दोऊ (सू० म० १६); दोउ (तु० गी० १-२३), उभइ (हित० २५)।

'समस्त तीनों' 'समस्त चारों' के भाव को व्यक्त करने के लिए पूर्ण संख्यावाचक में -औ जोड़ देते हैं; जैसे तीनौ; चारौ; पाँचौ (करौ०)।

तीन्यौ; तीनों; (गोकुल० ११-२); तिहुँ (हित० २); चारों (लल्लू० ४-१२); चार्यो (तु० गी० १-२३)।

११. वाक्य

शब्दक्रम

२५२. पद्यात्मक रचना में वाक्यान्तर्गत शब्दों के साधारण क्रम में छन्द की आवश्यकता के कारण प्रायः उलट फेर हो जाता है, अतः इस विषय का ठीक अध्ययन गद्य रचनाओं के आधार पर ही हो सकता है। ब्रज का अधिकांश साहित्य पद्य में होने के कारण प्राचीन ब्रज में शब्द क्रम का रूप दो गद्य ग्रंथों—चौरासी वार्त्ता (१७ वीं शती) और राजनीति (१९ वीं शती)—से प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक ब्रजभाषा के शब्द क्रम का अध्ययन गद्य के उदाहरणों के आधार पर है।

२५३. प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही ब्रजभाषाओं में साधारणतया निम्नलिखित शब्दक्रम होता है : कर्त्ता, कर्म, क्रिया। विशेषण का प्रयोग साधारणतया संज्ञा या सर्वनाम के पहले होता है। क्रियाविशेषण क्रिया के पहले आता है। उदाहरणार्थ *तुम नै एक रुपा छुड़ाय लियौ* (म०); *लाल टोपी कहाँ है ? तव श्री आचार्य जी महाप्रभू आप पाक करत हुते* (गोकु० २-११)।

२५४. किसी भाव विशेष पर वल देने के लिए शब्दों के साधारण क्रम में प्रायः उलट फेर कर दिया जाता है।

कर्त्ता क्रिया के वाद रखा जा सकता है; जैसे *मै जानूतों रुप्या हैंगे, निकरी असरफीं* (म०), *सूरदास जी सों कह्यौ देशाधिपति ने* (गोकुल० ८-१०)।

विशेषण जो साधारणतया कर्ता के पहले आता है जैसे *कारो आदमी*, वाद को आ सकता है, जैसे *ब्राह्मन हत्यारो हू मानियै* (लल्लू० १०-११)।

कर्म, जो प्रायः कर्ता और क्रिया के वीच में आता है, वाक्य के अंत में आ सकता है, जैसे *हम लिंगे एक किताव* (आ०); *विद्या देति है नम्रता* (लल्लू० २-२३)।

साधारणतया क्रिया वाक्य के अन्त में आती है किन्तु उपर्युक्त परिस्थितियों में कर्ता या कर्म के पहले आ सकती है।

भिन्न पुरुषों के सर्वनामों का क्रम साधारणतया निम्नलिखित रहता है : उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, अन्य पुरुष : *हम तुम और वे चलंगे; हम तुम संग खेलंगे*।

अभिव्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार क्रियाविशेषण वाक्य में कहीं भी रक्खा जा सकता है। ज़ोर देने के लिए यह प्रायः वाक्य के प्रारंभ में रख दिया जाता है, जैसे *चार वजे के करीव वरात उतरी* (आ०); *तौ वे चौवे बोले गाड़ी वारे सै* (म०), *सो कितनेक दिन मैं गऊघाट आये* (गोकुल० १-२), *सूरदास जी ने विचार्यो मन में* (गोकुल० ६-८)।

¾ पौन	पौए (बुल०)
(तुल० पौना)	पौन (पू० जय०, इटा०)
+¼ सवा	सवा (आग०, अली०, भ०)
	तुलनार्थ सवाओ सेर (इटा०, फर्रु०, शाह०, पीली०, बदा० ए०)
	सवाओ (मैन०)
	सवायौ (धौ०)
	सवायो (अली०)
१½ डेढ़	डेड़ (म०)
	डेड (पू० जय०, करौ०)
	डेढ़ (आग०, धौल०, फर्रु०)
	डेढ़उ (धौल०)
	डेढ (बुल०)
	डेढ़ (भर०)
	डेड़ु (मैन०, ए०) तुल० डेओढ़ो (अली०) डेओढ़ो (बुल०)
२½ अढ़ाई	ढाई (म०, अली०, बुल०, भ०, पू० जय०, करौ०, धौ०, प० ग्वा०)
+½ साढ़े	साढ़े (म०, पू० जय०, धौ०, मैन०, ए०, प० ग्वा०, इटा०)

आवृत्तिमूलक संख्यावाचक

यह भाव प्रकट करने के लिए निम्नलिखित रूप प्रयुक्त होते हैं :

दूनो	दूनौ (आग०)
दुगूनो	दूणौ (बुल०)
	दुगुनो (फर्रु०)
तिगूनो	
चओगुनो	चौगुनी (तु० क० ५-१९)
	चौगुनो (नरो० ८२)

सौगुनी (नरो० ८२)

पँचगुनो

दोनों के लिए ब्रज में दोनों शब्द है।

दूसरे ज़िलों में पाए जाने वाले रूप हैं :

दूनौं (पू० जय०); दोई (बुल०); दोऊ (म०, मै०, बदा०); विकृत रूप—दोऊन (अली०), दोउन (भर०)

दोऊ (सू० स० १६); दोउ (तु० गी० १-२३), उभइ (हित० २५)।

'समस्त तीनों' 'समस्त चारों' के भाव को व्यक्त करने के लिए पूर्ण संख्यावाचक में -औ जोड़ देते हैं; जैसे तीनौ; चारौ; पाँचौ (बरे०)।

तीन्यौ; तीनौं; (गोकुल० ११-२); तिहुँ (हित० ७); चारौं (लल्लू० ४-१२); चार्यो (तु० गी० १-२६)।

११. वाक्य

शब्दक्रम

२५२. पद्यात्मक रचना में वाक्यान्तर्गत शब्दों के साधारण क्रम में छन्द की आवश्यकता के कारण प्रायः उलट फेर हो जाता है, अतः इस विषय का ठीक अध्ययन गद्य रचनाओं के आधार पर ही हो सकता है। ब्रज का अधिकांश साहित्य पद्य में होने के कारण प्राचीन ब्रज में शब्द क्रम का रूप दो गद्य ग्रंथों—चौरासी वार्त्ता (१७ वीं शती) और राजनीति (१९ वीं शती)—से प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक ब्रजभाषा के शब्द क्रम का अध्ययन गद्य के उदाहरणों के आधार पर है।

२५३. प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही ब्रजभाषाओं में साधारणतया निम्नलिखित शब्दक्रम होता है : कर्त्ता, कर्म, क्रिया। विशेषण का प्रयोग साधारणतया संज्ञा या सर्वनाम के पहले होता है। क्रियाविशेषण क्रिया के पहले आता है। उदाहरणार्थ *तुम ने एक रुपा छुड़ाय लियौ* (म०); *लाल टोपी कहाँ है ? तब श्री आचार्य जी महाप्रभू आप पाक करत हुते* (गोकु० २-११)।

२५४. किसी भाव विशेष पर बल देने के लिए शब्दों के साधारण क्रम में प्रायः उलट फेर कर दिया जाता है।

कर्त्ता क्रिया के बाद रखा जा सकता है; जैसे *मै जानूतों रुप्या हैंगे, निकुरी असरफीं* (म०), *सूरदास जी सों कह्यौ देशाधिपति ने* (गोकुल० ८-१०)।

विशेषण जो साधारणतया कर्ता के पहले आता है जैसे *कारो आदमी*, बाद को आ सकता है, जैसे *ब्राह्मन हत्यारो हू मानिये* (लल्लू० १०-११)।

कर्म, जो प्रायः कर्ता और क्रिया के बीच में आता है, वाक्य के अंत में आ सकता है, जैसे *हम लिंगे एक किताब* (आ०); *विद्या देति है नम्रता* (लल्लू० २-२३)।

साधारणतया क्रिया वाक्य के अन्त में आती है किन्तु उपर्युक्त परिस्थितियों में कर्ता या कर्म के पहले आ सकती है।

भिन्न पुरुषों के सर्वनामों का क्रम साधारणतया निम्नलिखित रहता है : उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, अन्य पुरुष : *हम तुम और वे चलंगे; हम तुम संग खेलंगे*।

अभिव्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार क्रियाविशेषण वाक्य में कहीं भी रक्खा जा सकता है। जोर देने के लिए यह प्रायः वाक्य के प्रारंभ में रख दिया जाता है, जैसे *चार बजे के करीब बरात उतरी* (आ०); *तौ वे चौबे बोले गाड़ी बारे सैं* (म०), *सो कितनेक दिन मैं गऊघाट आये* (गोकुल० १-२), *सूरदास जी ने विचार्‌यो मन में* (गोकुल० ६-८)।

२५५. संज्ञा, सर्वनाम, संज्ञा के समान प्रयुक्त विशेषण, क्रिया विशेषण अथवा वाक्य या वाक्यांश कर्ता या कर्म के समान प्रयुक्त हो सकता है, जैसे *राजा...बोल्यौ* (लल्लू० ७-९); *जो आवे सोई कहै* (गोकुल० १५, १०); *सब श्रीनाथ जी को है* (गोकुल० २२-१); *ऐसे संदेह में जैबौ जोग नाहीं* (लल्लू० ९-१८); *काहू कों आये पन्द्रह दिन भये हुते* (गोकुल० १९-५)।

अन्वय

२५६. यदि कर्ता के रूप में सर्वनाम विभिन्न पुरुषों में आता है तो अन्वय प्रायः उत्तम, मध्यम, तथा अन्य पुरुष के क्रम से होता है तथा क्रिया सर्वनाम से मेल खाती हुई उसी क्रम में रहती है, जैसे *हम और वो जांगे, तुम और वे चलौगे*।

ऐसी दशा में जब कि क्रिया के कर्त्ता अनेक लिंगों के हों, तब क्रिया निकटवर्ती शब्द के लिंग के अनुसार होती है, जैसे *वा औरत और वो आदमी गओ हो*, किन्तु *वो आदमी और वा औरत गई ही*।

२५७. व्रजभाषा में केवल साक्षात् उक्ति के उदाहरण मिलते हैं, जैसे *तीस मारखाँ राजा ते बोल्यौ, मैंनें हाती मार्यौ है* (बु०); *तब श्री आचार्य जी महाप्रभू नें कह्यो जो जा स्नान करि आउ हम तोकों समझायेंगे* (गोकुल० ४-६)।

१२. उपसंहार

प्राचीन तथा आधुनिक व्रजभाषा

२५८. प्रस्तुत प्रबन्ध के व्यापक तथा विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्टतया पता चलता है कि गत चार शताब्दियों में व्रजभाषा में तत्वतः कोई अन्तर नहीं आया। आधुनिक व्रज में कुछ अंग्रेज़ी शब्दों का प्रचलित हो जाना यूरोपीय सभ्यता के संपर्क का द्योतक है (§ ८५)। शब्द रचना तथा वाक्य रचना में साधारणतया कोई अंतर नहीं हुआ है।

आधुनिक व्रज में परिवर्तन वाली कुछ साधारण प्रवृत्तियाँ स्थान स्थान पर इंगित कर दी गई हैं, जैसे संयोगात्मक कर्मवाच्य रूपों का लुप्त हो जाना (§ २०९), संयुक्त क्रियाओं का अधिक प्रयोग (§ २३८) एकवचन के, स्थान पर वहुवचन का अधिक प्रयोग (§ १४५)।

परिवर्तन के लक्षण उच्चारण में विशेष रूप से स्पष्ट होते हैं, जैसे मध्य तथा अन्त्य अ का लोप (§ ८९), मध्य तथा अन्त्य स्थान में हकार का लोप (§ ११४), तथा ध्वनि अनुरूपता (§ १२३-१२८) इत्यादि। साहित्यिक रूप में स्वीकृत हो जाने पर इस प्रकार की परिवर्त्तन संबंधी प्रवृत्तियाँ भाषा में ध्वनि सम्बन्धी तात्त्विक परिवर्त्तन उपस्थित कर देंगी।

प्राचीन लेखकों ने अधिकांशतः शुद्ध व्रजभाषा में रचनाएँ की हैं, इस बात का पता आधुनिक व्रज तथा उन रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से लगता है। किन्तु दो बातें स्मरणीय हैं। पहली बात तो यह कि सूरदास अथवा विहारी जैसे प्राचीन उच्चकोटि के लेखकों की रचनाओं में भी पड़ोस की अन्य बोलियों, विशेष रूप से अवधी से उधार लिए गए शब्द मिलते हैं (§ ४३, ५५)।

दूसरी बात यह कि मथुरा की व्रज, अर्थात् प्राचीन लेखकों की पश्चिमी व्रज, बाद में व्रजभाषा के पूर्वी रूप से प्रभावित हो गई थी (§ ५४)। इसका कारण पूर्वी प्रदेश के उन प्रभावशाली लेखकों की मातृभाषा थी जिन्होंने व्रज में अपनी रचनाएँ लिखीं (§ ५७, § ५८)।

इस प्रकार अवधी तथा पूर्वी व्रज रूप धीरे धीरे विशुद्ध साहित्यिक व्रज में ग्रहण किए जाने लगे और बाद में तो इन रूपों का प्रयोग ठेठ व्रजभाषा के पोषकों द्वारा भी होने लगा। इनमें से कुछ की चर्चा प्राचीन व्रज लेखकों द्वारा रचित साहित्य के मूल्यांकन पर विचार करते समय की जा चुकी है (§ ४३-§ ६४)।

व्रजभाषा के मुख्य लक्षण

२५९. ध्वनि अथवा शब्द सम्बन्धी ऐसे कोई लक्षण नहीं हैं जो केवल व्रजभाषा में ही पाये जाते हों और पड़ोस की किसी अन्य भाषा में न पाये जाते हों। वास्तव में

ब्रजभाषा में कई ऐसी विशेषताओं का सम्मिश्रण है जो इसे एक निजी छाप प्रदान कर देते हैं। ये विशेषताएँ न केवल ब्रज में वरन् पृथक् पृथक् पड़ोस की अन्य भाषाओं में भी पाई जाती हैं।

इन विशेषताओं की तुलना की दृष्टि से राजस्थानी ही ब्रज की निकटतम भाषा है। ब्रज तथा राजस्थानी में सामान्य रूप से पाए जाने वाले समान लक्षण इस प्रकार हैं :—

संज्ञा तथा विशेषण (§§ १४६, १५५), सर्वनामवाची रूप *मेरो* इत्यादि (§§ १६१, १६७), *परसर्गवाची* विशेषण को इत्यादि (§ २०४), तथा ओकारान्त *कृदन्ती* विशेषण चलो इत्यादि (§ २१९); परसर्ग *ने* (§ २०२ माल०, मेवा०, निम०); परसर्ग *ते* (*से* के अर्थ में) (§ २०३); सहायक क्रिया *होनो* का भूतकालिक कृदन्त *हो, ही* (§ २३० मार०, मेवा०); *ह* भविष्य (§ २१४ मार०) और *ग* भविष्य (§ २१३ मेवा० माल०)।

ओकारान्त रूप समस्त पहाड़ी बोलियों में पाए जाते हैं। संज्ञाओं का विकृत रूप बहुवचन *–अन* (§ १५०) ब्रज तथा कुमायुँनी दोनों में ही पाया जाता है तथा *–ते* परसर्ग ब्रज और गढ़वाली में है।

गुर्जरी तथा ब्रज में भी सामान्य लक्षण अनेक हैं, उदाहरण के लिए *ओकारान्त* रूप *ने* तथा *ते* परसर्ग और *ग* भविष्य। *ते* परसर्ग तो *ने* परसर्ग और *ग* भविष्य के साथ खड़ीबोली में भी पाया जाता है। *ने* परसर्ग, *ग* भविष्य पंजाबी में भी पाए जाते हैं।

गुजराती तथा ब्रज में ओकारान्त रूप और *हतो, हती* (§ २३०) सहायक भूतकालिक कृदन्त समान रूप से प्रयुक्त होते हैं।

ब्रज तथा हिंदी की पूर्वी बोलियों में समान रूप से पाए जाने वाले लक्षण संज्ञा का विकृत रूप बहुवचन *–अन*, वर्तमानकालिक कृदन्त *–अत* और *ह* भविष्य हैं।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि निश्चयवाचक सर्वनाम का असाधारण रूप *ग* ब्रज की भाषा की विशेषता न हो कर प्रादेशिक विशेषता मात्र है (§§ १६८, १७४)। इनके अतिरिक्त पुरुषवाचक सर्वनाम के कुछ वैकल्पिक रूप बिल्कुल खड़ीबोली के रूपों की भाँति तो नहीं किंतु उन्हीं की समानान्तर शैली में बुन्देली में भी पाए जाते हैं (§§ १६०, १६६, १७३, १७९, १८३, १८८)।

ब्रजभाषा और खड़ीबोली हिन्दी

ब्रजभाषा पर खड़ीबोली हिंदी का प्रभाव अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है, इस बात की पुष्टि प्राचीन तथा आधुनिक ब्रज की तुलना से होती है। ब्रज के प्राचीन रूप में आधुनिक ब्रज की अपेक्षा खड़ीबोली हिंदी के शब्द कम पाए जाते हैं। आधुनिक ब्रज पर विशेषतया पूर्वी ब्रज पर तो खड़ीबोली हिंदी का प्रभाव और भी अधिक है (§§ १८१, १८८, १९१, १९३, २०३)। इस बात का स्पष्ट कारण १९ वीं शती से खड़ीबोली हिंदी का बढ़ता हुआ साहित्यिक महत्व ही है। अवधी की अपेक्षा खड़ीबोली हिंदी ब्रज की सबल प्रतियोगी है। खड़ीबोली हिंदी ने लगभग पूर्ण रूप से साहित्यिक क्षेत्र में ब्रज का स्थान ले लिया है यद्यपि बीसवीं शती में भी उत्तम रचनाओं के लिए अनेक पुरस्कार

व्रज की रचनाओं पर मिले हैं। गद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली हिंदी का एक छत्र आधिपत्य है। स्कूलों के द्वारा खड़ी बोली हिंदी का प्रवेश गाँवों में हो गया है, यद्यपि अभी भी खड़ीबोली केवल स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों तथा कक्षाओं तक ही सीमित है। स्कूल में भी विद्यार्थी की मातृभाषा का प्रभाव बरावर साथ साथ बना रहता है।

खड़ीबोली हिंदी का प्रभाव हिंदी की समस्त बोलियों पर पड़ेगा यह निश्चित है, किन्तु खड़ीबोली हिंदी इन बोलियों का स्थान ले लेगी यह संभव नहीं है। हिंदी भाषी प्रदेश इतना अधिक विस्तृत है तथा ऐक्य स्थापित करने वाले प्रभाव इतने निर्बल हैं कि व्रज-भाषा अथवा हिंदी की अन्य बोलियों का पूर्णतया नष्ट हो जाना असंभव प्रतीत होता है। संभावना यही है कि ये बोलियाँ परिवर्तित रूपों में अपना अस्तित्व बनाए रक्खेंगी।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में व्रजभाषा का स्थान

२६१. हिंदी की बोलियों में बुन्देली ही व्रज के सब से अधिक निकट है। वास्तव में बुन्देली को व्रज का दक्षिणी रूप कहा जा सकता है। दोनों में अंतर शब्द-रचना की अपेक्षा ध्वनियों में अधिक है। व्रज में पाए जाने वाले व्याकरण सम्बन्धी लगभग समस्त मुख्य रूप स्थान स्थान पर ध्वनि सम्बन्धी थोड़े रूपान्तरों सहित बुन्देली में भी पाए जाते हैं। व्रज के संयुक्त स्वरों **ऐ औ** का मूल स्वरों **ए ओ** की भाँति उच्चारण (**मैं** के लिए **में**; **कैहौं** के लिए **केहों**; **और** के लिए **ओर**); ड़ के स्थान पर र का प्रयोग (**पड़ो** के लिए **परो**); मध्य ह का नियमित लोप (**कही** के लिए **कई**); अनुनासिक स्वरों का अधिक प्रयोग (**तू** के लिए **तँ**) इत्यादि ध्वनि सम्बन्धी प्रमुख लक्षण हैं जो बुन्देली की निजी विशेषताएँ कही जा सकती हैं। वास्तव में बुन्देली को हिंदी की एक अलग स्वतंत्र बोली न मान कर व्रज की दक्षिणी उपबोली कहा जा सकता है।

खड़ीबोली और अवधी-बघेली की परिस्थिति भिन्न है। ये बोलियाँ व्रज की बहनें हैं। खड़ीबोली में हम पंजाबी से प्रभावित हिंदी की एक बोली पाते हैं, तथा अवधी-बघेली में पूर्वी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के कुछ प्रभावों से युक्त हिंदी का एक रूप पाते हैं। खड़ीबोली व्रजभाषा और अवधी हिंदी भाषा परिवार की मुख्य अंग हैं; खड़ीबोली और अवधी द्वारा घिरे रहने के कारण व्रजभाषा उत्तरी पश्चिमी तथा पूर्वी प्रभावों से सुरक्षित रही है किन्तु दक्षिण-पश्चिमी और उत्तर की बोलियों से इसका निकट सम्बन्ध रहा है।

जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है उत्तर की पहाड़ी बोलियों, राजस्थान की बोलियों तथा गुजराती में व्रज में पाए जाने वाले अनेक लक्षण मिलते हैं। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि सुदूर अतीत में व्रज क्षेत्र की बोली के उत्तर तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर फैलने के फलस्वरूप पहाड़ी और राजस्थानी गुजराती भाषाओं की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार व्रजभाषा मध्यदेश के हृदय प्रदेश की भाषा जान पड़ती है, जो उत्तर-पश्चिम और पूर्व की ओर से दबायी जाने के कारण उत्तर तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर फैल गई है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच व्रज की यह स्थिति भूमिका में उपस्थित किए गए आर्यावर्त्त के सांस्कृतिक इतिहास से भी पुष्ट होती है।

परिशिष्ट

आधुनिक ब्रजभाषा तथा सीमान्त प्रदेशों की बोली के कुछ उदाहरण

अलवर

स्याड़ और ऊँट दोउ भाई ल्हावैं। एक दिन स्याड़ ने ऊँट सैं कई, भाई आपाँ कचरा खावा चलां। दोनूं वा सैं चल दिया। रस्ता माँ आई नन्दी। स्याड़ कए ऊँट सैं कि भाई तेरी पीठ मैं मो कूं चढ़ा ले। ऊँट नैं पीठ पै चढ़ा लियो। वो दोनूं नदी को पार उतर गए। जो स्याड़ हो वा तौ एक कचरा मैं ढाप गयो, और ऊँट हो वो ढाप्यो नई हो।

अव स्याड़ नै ऊँट सैं कई, भाई ड़ा (रे) मोकूं हुकीकी आवैं। जव ऊँट नैं कई, भाई थोड़ी सी देर और डट जा। वा नैं कई, भाई मैं तो पुकारुंगो। स्याड़ हो सो पुकार कै भग गयो और ऊँट हो वो वा ही चरवो कर्‌यो। फेर आयो खेतवाड़ी। लट्ठन के मारे ऊँट को हाड़ फोड़ गेर्‌यो।

जव वां सै चल दियो ऊँट। दोन्नों नद्दी किनारा जा कर मिल्या। जव स्याड़ नै ऊँट सैं कई, भाई ला तेड़ी पीठ पै मोकूं चढ़ा ल्या। ऊँट ने उसै चढ़ा लियो। जव नदी का वीच मां पौच्या जव ऊँट नैं कई, भाई ला मोकूं लुटलुटी आवैं। जव स्याड़ नै कई भाई ला थोड़ी सी दूर और चल।

ऊँट नै नई मानी। वु लुटलुटी मार गयो। स्याड़ सो वह गयो। वा कै साथ वा नै वदी करी तो वा को सजा मिल गई।

कन्हैया माली

अलीगढ़

एक पोत ऐसो भयौ कै गङ्गलीरा व्यार औस् सूज्ज दोनों लर रए, कै दोनन् मैं कोन जोद्दार ऐ। इतेई में एक रस्तागीर ऊन कै लत्ता पैर कै आयौ। व्यान् नै औस् सूज्ज नै जे तै कल् लई कै जु कोई हम मैं सूं जा कै कपरा उतरवाय लैगो वोई हममैं सूं जीति जायगी।

इतेई मैं गङ्गलीरा व्यान् नै अपनो खूब जोल् लगायी और वरी जोस् सैं चली। गुओ जित्ती चल्तई उत्तेई ग्व अपने लत्तन् कूं जोस् सैं पकर्त्तौ। फिर थोरी देर मैं व्यार हारि गई और वन्द ह्वै गई।

फिर सूज्ज नैं ऊँ खूब जोल् लगायी, और फिर सरी गरमी परन लगी। रस्तागीन् नैं फिर अपने कपरा उतार कै फेंक दये और सूज्ज जीत गयौ।

कौड़ियागंज, तहसील सिकंदर राउ
अलीगढ़ से दक्षिण-पूर्व

गौरी शंकर

आगरा

एक मियाँ साब तिरिया चरित्त की किताबें बेचिबे गए। एक घोड़ा हो वा पै किताब लदीं। आप संग हे। थोड़ी सी दूर पै एक गाम मिलो। माँ एक ठकुरानी बैठी ही। वा नें कई का बेचत हो मियां साआब। विन्नें कई कि हम किताब बेचत हैं तिरिया चरित्त की।

किताबन में तिरिया चरित्र कैसो होत है, ठकुरानी बोली मियाँ सूं। विन्ने कई कि जो तिरियाँ ऐसो वैसो कत्ती हैं। विन्ने कई आओ हम लिंगे एक किताब। वाय अपने घर लिवाय गई। घोड़ा द्वार ठाड़ो रह्यो। विन्नें ठकुरानी नें मियाँ की दूध कद् दओ। मियाँ तें कई मियाँ तै दूद पी ले। विन्ने कई हमें देर होत है, जो द्वै एक किताब लेनी होय लै ले। विन्नें कई दूद पी लेओ।

मियाँ ने दूध पियो। विन कै ठाकुर चौपर खेलिबे कत्त हे। विन्नें कई, आओ मियाँ एक चौपर की बाजी खेल लें। विन्ने कई, हमें तो देर होत है ठकुरानी। विन्नें कई हाल खेल लिंगे। चौपर बिठाय कै बैठ गए। तौ जू ठाकुर आय गए। मियाँ नें कई, ठकुरानी हमें कऊँ दुबकाओ, हमें ठाकुर मारिंगे। विन्नें एक सन्दूक में बंद कद् दए।

विन की जूतो और टोपी बई धरी रई। ठाकुर नै पूछी जो जूतो और टोपी कौन की हैं। ठकुरानी नै कई, मेरे यार की है। वानें कई, यार तेरो कब को है। वानें कई, आज देखो है, अबई को है। वानें कई, जा मतलब बता जे किस्सा तौ है गए।

ठकुरानी नै कई, मियाँ तिरिया चरित्र की किताब बेचिबे आए हे। मैंनें इन पै किताब माँगी। विन नें घोड़ा ठाड़ो कल् लओ किताब बेचिबे के लए। सो मियाँ है संदूक में। विन नें तारी फेंक दई। ठाकुर नै संदूक में तें निकाल लए। ठकुरानी नें कई जौ किस्सा हमारो ऊ छाप दियो मिआं। मियाँ नै घोड़ा पै से किताबें पल्ट कें सब लिअराय दई।

गाँव मदावले, आगरा से १० कोस पूर्व — चरनसिंह ठाकुर

इटावा

एक चिरैया हती, एक चिरांटा। सो उन्नें घोंसुआ रक्खो। उन्ने अंडा रक्खे। वो चिरांटा सो जाओ करै चुनबे के काजैं। चिरैया हिआं राओ करै अंडन के ढिंगा अपने। सो एक हाँती आओ करै सो वाहि अंडन के [illegible] लगाय कै चलो जाओ करै।

सो एक दाँव चिरैआ-नें जा कई कि बड़े बड़ेन की गटक जैए। हाती नै कई गटक जैहे तो हटके। सो वा चिरैया नै कै दई अपने चिरांटा नै कि एक हाँती है सो रोज बिगरा दै सो गओ जान दै। सो उन्नें कई कि हम सोर रएँ।

सो अब कै आओ हाँती। अब वो ठोंगा मार मार कै भाजै। उन्ने कई हमारे ठोंगन सों [illegible]। सो चिरांटा [illegible] सों कान में घुस गओ हाँती के। अब हाँती जा काय कि निकरि आओ, अब नहीं आँगे नेंक हिंगां।

एटा

१

एक सेकचिल्ली हे। विन्नें चना वये। विन्नें एक आदमी सें पूछी कि चना कैसे वये जात हैं। विन्ने कही, भुंजे वये जात हैं। सो सेकचिल्ली चना भुंजवाय लाये। सो एक चना कच्चो रहि गओ। सो वये उपजि आओ।

एक दिन सेकचिल्ली की अम्मा आई। विन्नें कइ कि लला घरको खेत कौन सो है। विन्ने कह दई जे सवरे घरई की खेत है। सो विन की मैंतारी गई सो लोधरन को खेत हो। सो विन्नें गारी दई। सो विन्नें कइ कि अच्छा पंचाइत कल्-लेओ। सेकचिल्ली नें पंचाइत कर लई।

सेकचिल्ली पैंले से पैंले गए सो अपनी मैंतारी की खेत मैं गाड़ि आए नाँद के नीचे। सो विन्नें कई कि चलौ खेत वुलवाय देंख किनको है। फिर विन लोधिन नें कई कि किन कौ खेत है? खेत नाव वोलो। फिर सेकचिल्ली वोले कि खेत पनवेसुर (परमेश्वर) तू किन को है? सेकचिल्ली पूत को। सो सेकचिल्ली नें खेत काटि कें पैंव में धरो।

गाँव गंगनपुर,
एटा के दक्षिण में

अहीर लड़का

२

हमारी छोरी वड़े लड़का के ताँई करी। अव जव तुमारो लड़का मरि गओ तौ कैं तौ हमारी छोरी कौ हमारे संग पठै देओ और नाव पठावत हौ तौ अपने छोटे छोरा की भामरें डाल लेओ।

मोय तौ साअव समवाई है नाव। फसल मेरी गई ऐ विगरि। जो कछ पैंदा भओ हो सो नाज है गओ मट्टो। सो सव वेंचि वाँच कें जिमीदार की उगाई दै दई। साऊकार कोई देत है नाव। अव हम काँ सैं लावें जो व्या कल लेंव। हम तौ सोवते ई सैं करंगे।

गाँव इस्माइलपुर,
तहसील कासगंज के पश्चिम

अहीर

३

भजन (चेतावनी)

विपत परे दिन लगत वुरो री।
एक दिन विपत परी नल राजा पैं, पिंगुल जाय रहे री,
तेलियरा के पाट री हाँकी, तव राजा के सुत एक भओ री।
एक दिन विपत परी हरिचन्द राजा पैं, कालौ का नीर भरे री,
दुर्मिल (दुर्वल) गात, थकित भए भुजवल, अव रानी हम पैं माँट उठै ना री।
विपत परी मोरधज राजा पैं, आरे सीज गए री,
एक लँग रानी आय खरी है, एक लँग राजा नें सुत पैं आरो धरो री।

एक दिन विपत परी पांचौं पंडन पै, पाँसे हार गए री,
भरी सभा दूसासन बैंठो, हँसि कै चीर द्रौपदी के गहो री॥
गंगनपुर अहीर बूढ़ा

करौली

एक सेठ हो। वाके सात लरका ए। वा में सैं छैइन के व्याह है गए। एक को नई भयो।

एक दूसरे सेठ के एक लड़की ही। वा सेट नै अपने पंडित कूँ वुलायौ। उसकूँ एक हार दै दियो, और वासैं कई कि जो कोई या हार कौं मोल लै लेय वाई के लड़िका कूँ या हार कू टीके मै दे अइयो। पंडित गयो और वाई सेट के पौंचो, और सेट कूँ हार वतायौ। और सेट नै वा की कीमत पूछी। सेट नै अपने आदमी सैं कई कि इस हार की कीमत दै कै हार कौं लै लेओ।

तव पंडित नें वा सेट सैं पूछी कि आपके कै छोरा हैं और अवई तक उनकी सादी हुई (भई) है कि नई। सेट नें कई कि छोट सैं छोटे लड़का को व्याह नई हुओ ऐ। तव पडित नै वा हार कूँ छोटे लड़का के नार (गले) में हार पैना दियो, और सेट सैं कई कि या हार कूँ मैं बेचवे कूँ नई लायो। हमारे सेट जी के एक लड़की है वाकूँ लड़का तलास करिवे कूँ आयो हूँ। सेट नें वा पंडित कूँ भौत सो धन दै कै विदा कर दियो। और व्या की तैयार ह्वैवे लगी। खूब चोल्चाल सैं व्या है गयो।

लड़की अपने सुसराल कू चली गई, पर वानै अपने सासुरे में जाके कुछ नि खायो। वो ये वात ही कि वा लड़की को ये पन हो कि जब तक गजमोती मंदिर मैं नई चढ़ाउं तब तक रोटी नई खाउं। वा सेट के घरवान नें वा सैं रोटी खाइवे की भौत कई पर वानें नई खाई और न अपनी वजै वताई।

वैश्य जैनी

ग्वालियर : पश्चिम

१

एक राजा के सात लड़का हैं। उन में सै एक कानो हतो। एक रोज छयौ मोड़न नैं कही कि हम सिकार खेलिवे जांगे। पिता जी बोले, अच्छी बात है चले जइओ। फिर वे सब तैयार भए। विन में तैं एक कानो बोलो कि भैया मोंय वि लै चलौ। उननें कई तू तौ कानो है तेरे खराब दर्सन होंगे ताते सिकार नईं मिलैगी। तई कानो बोलो, मतौ लै चलौ भइआ। सोई वे छऊ चल दए।

चल्त चल्त बनिआ के पौंचे। बनिआ बोलो कि जा ज्वारैं चार फक्कन में खाय जायगो, तई सिकार कल लावौ। तई विन सबन नें खाई। काऊ पै नईं खवाई आई। फिर वे चल दए। डाँग में पौंचे। विन कौ एक बरहलो सुअर मिलो। वे वाय मारिवे लगे। तौ विन छेउन नैं खाय गओ।

फिर तीन चार रोज पीछे कानो आयो। बनिआ के घर गयो। फिर बनिआ बोलो, जाय जौंड़री चार फक्कन में खाय जायगो तई सिकार कल लावैगो। वानैं चार फक्कन में खाय लई। चल्त चल्त वाई सुअर के भैयाँ आयो। फिर वानैं घोड़े बँधे देखे। वानैं जानी मेरे भैया जानै खाय लए हैं। वानैं सुअर माड् डारो। वा में छेऊ भैइया निकरि आये।

फिर वानैं सोची के घर न्यौं कहै जो कि हमन नें बचाये हैं, ताते जाय भाईं (यहाँ ही) माच् चलौ। सोई विन नें कई, भैआ प्यास लगि रही है पानी लाय दे। फिर विन्नें कई, संग चलौ। सो एक कुआँ पै पौंचे। फिर सबन नें पानी पी लओ। फिर बस वौ कुआँ में ढकेल दओ। फिर वे तौ सब घर कौ चले आए। फिर पीछे एक गूजर कौ पानी भरिवे आयौ। वानें वाकी लेजु (रस्सी) पकड़ लई। वानें वौ निकाल-लओ। फिर वानें कई नौकरी करुंगो। फिर वौ बोलो तू भैया राजा को पूत, हमारे भएँ काय कौ करैगो। कि नईं में तौ कल्-लुंगो। तव वौ रोटी कपड़न पै रै गओ।

वानें एक बोकरा पाल लओ। वौ एक रोटी खाय और आधी रोटी बोकरा कों खवावै। दो खाय तौ एक वाकी खवावैं। ऐसेईं ऐसे वौ बोकरा भौत बड़ो है गयो। फिर वाको मालिक बोलो। तेइ (तेरी) खुसी होय तेइ (वह ही) माँग ले। कई में तौ कछू नाज माँगत। वा नें कई माँग ले। वा नैं कई और तौ कछू नाज माँगत जा बोकराय माँगत औं। उन नैं कई, लै जा। फिर वौ लै कै वाय चलो।

चल्त चल्त एक गोड़ेवारो (घोड़ेवाला) मिलो। फिर वानैं कई हट जा रे हट जा गोड़ेवारे, दुम्मी मेड़ो माड्-डारैंगो। वा नें कई कि मेरो घोड़ो लात दै देयगो तौ नौं मज्-जायगो। दौर रे दौर दुम्मी मेढ़े जाय माड्-डार। वानें वौ घोड़ो माड्-डारो।

ऐसेइ ऐसे चल्त चल्त एक नाहर वारो मिलो। कई, हट जा रे नाहर वारे। वानें कई ना हटत, मेरो नाहर खा जायगो। वानें कई दौर रे दौर दुम्मी मेढ़े जाय माड् डार। फिर वौ मैलन (महलों) में पौंचो। वौ आनंद सै रैंवे लगो।

सबलगढ़ (जादौं बाटी)
ग्वालियर के दक्षिण-पश्चिम में

लक्खू राम ब्राह्मिन

२

एक लड़ैआ (गीदड़) और लड़न्न हे। तौ बिनैं लगी प्यास। तौ बिनैं कईं पानी मिन्तो (मिल्ता) नईं तो। तौ बिन्नैं सोंची अब कैसी करैं, पानी कईं मिन्तु नईं ऐं। ऐसो विचार करि कैं लड़न्न नै बूझी लड़ैया-ऐ के तुम में कितेक अक्कल हैं। तौ लड़ैआ बोलो मैं तौ सौ अक्कलैं जान्त हौं। लड़ैआ बोलो लड़न्न सैं तुम में किती अकल है तुम बताओ। लड़न्न हे (ये) बोली मैं तौ तीन अक्कलैं जान्त हौं। तौ भां (यहां) पांनी तौ कईं नइआं, नाहर की बाबरी पै पानी मिलैगो। तौ वे चन्ते चन्ते नाहर की बाबरी पै पींचे। जाकैं ठाड़े भए।

नाहर बोलो, तुम को हौ। तौ वे बोले, हम हैं दाउ जी। नाहर बोलो तुम कैसे आए। तौ लड़न्न बोले लड़ैया सैं तुम में कितनी अकल रही है। लड़ैया मो में तौ एक ऊ नईं रई नाहर के डर मैं। लड़न्न बोली मैं जान्ती तीन अक्कलैं। तौ नाहर सैं बोली, दाऊ जी मेरे भए बच्चा चार। तौ लड़ैया कैतु ऐ कि तू तौ लै ले जे दोनौं मोड़ी, और मोयँ मोड़ा दै गालै। दाऊ जी मोऊ प्यास लगी तौ मोअ पानी पी लेन दे, फेर बात करुंगी तो सैं। नाहर बोलो, नींचे बाबरी है पी आओ जाय कैं। नाहर अपने मन में सोचो कि दो तौ जे भए, चार बच्चा भए, गा कैं पेट भर जायगो।

बिन दोडन नें खूब पानी पिओ डट कैं। फिर नाहर के पास आए। तौ बोले, चलौ दाउजी हमारो हौंना कर दो। आंगे लड़न्न लड़ैया चले, पीछे सैं नाहर चले। अपने मकान पै पींचे। लड़ैया बोलो, भीतर जाय बच्चन कौं निकाल्-ला। लड़न्न तौ भीतर घुस गई। लड़न्न बोली, तुम भीतर धसि आओ। मो पै नईं निकरैं। लड़ैया भी भीतर धसि गए। लड़न्न लड़ैया नै सल्लाह करी कि हमारी आंद (मांद) मैं तौ आय नईं सकत तातैं नाईं कर देओ। तौ लड़न्न बोली, दाऊजी तुम तौ जाओ अपने घर कौं, हमनैं अपने घर की पंचायत घरईं मैं कल्-लई।

तौ नाहर बोलो, मैं जान्तो कि मैं बड़ो हुसियार हौं पै जे मो सैं हुसियार निकरे।

गांव सुन्दरपुर, हरप्रसाद,
ग्वालियर सैं ५ कोस पच्छिम ठाकुर जादौं

चाँद दै रानी की आन है। तो वौ स्यांप वा कौ छोड देय फिर। तौ कई यार वा तमामे तौ हम कोऊ वता। कि चलौ। तौ दूनौ सग है केनी चल दिए। तौ वु तौ वुई किस्सा है रह्यो। राजा को कँवर देख केनी वापिस घर कौ चले आए। तौ ना रोटी खाय ना पानी पियै।

राजा नै कई कि वेटा तू क्यौ रोटी नई खाय है। वा सै कोई जवाव नइ दियो। इतनेई मै वा कौ यार आय गयो। राजा वोल्यो, भाई याकौ रोटी खवाओ। वा नै कई; यार रोटी क्यों नई खाय है। तौ कई यार मै रोटी जव खाऊँ जव चाँद दै रानीऐ व्याऊँ। ना तौ वाके देस के पते। मोकुं एक साल की मोलत दे, मै ल्याउगो तोकूं। वो वाँ सै घोड़ा लै और कुछ रुपिया लै चल दिए।

अगाड़ी वे जव जाय पौंचे जगल मे वाँ एक वावा जी मर गयो। तौ तीन तौ चेला हे वाके और चार चीज ही—एक तौ सोंटा, एक खडाऊँ पामकी, एक तूमा और एक कठा। तौ वु तौ कए याय मै लुगो और वु कए याय मै लुगो। वाने कई यारौ एक वात करौ। कई यौ गैलना जो जाय रओ है, या सै कहो तुम कि इन चीजन मे उठाय उठाय चैये जौन सेन कौ दै दे। वा नै कई, भाई गुन वताओ जव दुगो, का करायमात है इन मे। तौ कए भाई जे पॉमडी है तो इनमें तौ ये गुन है कि यासे यो कओ कि याँ पाँचा देओ वॉ ई पौंचा देयँ है। और सोंटा मे ये गुन है कि कैसो हू कोऊ चलो आवै तौ नीचे कौ कान कल लेय। और तूमा मै या गुन है कि यामै पानी भर केनी मरे भए आदमी कनी पिलाय देओ तौ वौ जिदो ह्वै जाय। और चौखूटो लीप केनी और धूप दै केनी कि इतने रुपए हे जॉब तौ उतनेई है जाब।

तौ म्हां एक खूटी सै वावा जी को तीर कमान धरयो हो। तौ मै तीरै छोड़ो हूँ जा याय ले आवै पैले वाकुं चारो चीजे दै दुगो। तौ उननै तीर छोड्यौ। तौ तीनौ चेला तौ तीर कौ भागे और वानै वे चारों चीजे लै लीनी। तौ वौ का कए कि चलौ गुरु की पामडी जो सच्ची हौ तौ चाँद दै रानी के वाग मै उतारौ। तौ पाँवरी उननै वाँ सै उड़ायौ तौ रात के वारै वजे चाँद दै रानी के वाग मे पौंचा दिए।

हिंडौन,
जयपुर पूर्व

भोला ब्राह्मिन

पीलीभीत

पहले वखतन मे एक राजा भए। उनके चार कन्याएँ हीं। एक दिन राजा जव मरन लगे तव उनन्नै अपनी वेटिन कौ वुलाओ। वारी वारी नै सव सै पूछी कि तुम किसको दओ भओ खाती हौ। सव सै वड़ी लड़की वोली कि मै तुम्हारो दओ भओ खात हीं। मझली लड़की वोली कि महूं आपै को दओ खात हौ। अखीर मे राजा नै सव सै छोटी सै पूंछो। तव उसनै कहो कि मै किसऊ को दओ नाअ खात हौं, मै अपने भाग को खात हौं। राजा जा वात सुनि कै भौत नाराज भओ, और मन मै कही कि देखौगो जा कैसे अपने भाग्य को खात है।

थोड़े दिनन बाद राजा नें बड़ी को ब्याह बहुत बड़े राजा के हियां करो और खूब दान दैजो दओ। और मंझलिओ को ऐसिए जगह ब्याह दओ। लेकिन अपनी सब सें छोटी लड़की को एक कोढ़ी ब्याह दओ। छोटी लड़की नें अपने भाग की सराहना करी और आदमी की खूब सेवा सुस्रुखा करी। थोड़इ दिनन में कोढ़ सब अच्छो हुइ गओ और खूब ज्वान पट्ठा भओ। धीरे धीरे उनके दिन बहुरे और खूब रुजगार पात में नफा भई। दूसरी तरफ दोनों लड़किनी विधवा हुइ गईं और लंघन होन लगे।

राजा एक दिन घूमत घूमत उसई नगर में जाय पहुँचो और बड़ा भारी मकान देख कें अचरज करन लगो। मुहल्ला में पूछ गछ करी तब मालूम भई कि मकान मेरी सबसें छोटी लड़किनी को है। तब वो डरत डरत अन्दर गओ। लड़किनी नें बाप को तुरंत पैंचान लओ और बड़ी मन में हरखित भई, और खूब खातिर तवज्जा करी। बाप नें सरमाय कें गर्दन और पीठ पै हात फेरो कि अब मैंनें जानी तू अपनो भाग को खात है। मेरी खता को माफ कर दे। मैंनें नाअ जानी ही कि तू ऐसी बलवान है।

गाँव मड़िया हुलास,
तहसील बांगरपुर, पीलीभीत के दक्षिण में

गुनना—मड़िया हुलास के १० मील दक्षिण-पूर्व में गर्रा नदी के उस पार से पूर्वी

लई। एक रोटी रै गई वओ वानैं खाय लई। फिर वानैं कई औल्-लावो। वानैं कई हमैं खाय लेओ। वानैं गिरगौटि-औ कौ खाय लओ।

मदार संकरपुर,
जिला फर्रुखावाद (९ मील दक्षिण की ओर) नाई लड़का

वदायूँ

उज्जन नगरी में राजा वीर विकरमाजीत हो। राजा वीर विकरमाजीत की लड़किनी को व्याह हो। व्राह्मिनन की ताँईं वुलवाय कै न्योतो दओ गओ। व्रामन समुन्दन जी के पास पहुचो। कहन लागो, हे समुन्दन जी जौ न्योतो लै लेओ। समुन्दन जी ने जा वात कही कि आप ठाड़े रहाएँ, मैं फिर लै लेउंगो। समुन्दन जी मे लहिर आई। हीरा लाल जवाहर आए। समुन्दन जी ने कही कि इनै लै जाओ, विनै दै दीयौ राजा वीर विकरमाजीत के ताँईं। व्रामन को लड़का कह रहो है की जाय कैसे लै जाओं, रस्ता मैं चोर उचक्का मिल गये। विन्नै जा वात कही कि जाँघ चीरौ। विन में हीरा लाल जवाहर भद् दए गए। व्रामन हो सो चल दओ।

चलो आय रहो हो कि देखत कहा है कि एक भुज्जी को भार हो। तौ भुज्जी की महतारी देख कै वा विर्हम्मन की सूरत रोई, रोए कै फिर हसी। तो व्रिहम्मन को वेटा कह रहो है कि हे माता कैसी तौ मेतृताईं देख कै हँसी और कैसे रोई, जाकैं म्याने दै देओ। तौ वा भुज्जिन कै रई है कि वेटा सूरत देक-कै मैं रोई और जाके ताँईं हँसी कि पद्देसी तौ है। तो व्रामन को वेटा कै रओ है कि हे माता जो आप वतावंगी नाव तौ मैं प्रान हियाँ ईं छोड़ दुंगो। तई वाने कही कि हे वेटा तेरे ताँईं अगेला ठगन नगरिया पड़ैगी, तेरी जान हवा कद् दिगे, औ जो कुछ होयगो छीन लिंगे। तौ वाने कइ कि हे माता मैं वचौं कैसे। तौ वा भुज्जिन ने कही कि हे वेटा मेरे हियाँ कथरी परी है वा पै सिरा लिपटेय लेयु। वा पै मखरियाँ लग जाय तौ तुम निकज् जाउगे।

गाँव अव्दुल्लागंज,
उझियानी तहसील के उत्तर में, जिला वदायूँ केदार कहार

वरेली

१

एक वास्सा है और एक साऊकार हो। उनको उनको याराना हो। तौ वे पढ़े हे तौं वे एकै मदस्सा में पढ़े, और सादी भई हीं तऊ आगे पाछे भई हीं। तौ उनके रौने गौने भए और वउएं आउन जान लगीं। तौ साउकार ने अपने वेटा सै कई कि जे वास्साजादे हैं, तुम वेटा कुछ रुजगार करौ। तौ उन्नें कई भौत अच्छा। तौ उन्नें कई कि वरेली सै पीरी-भीत लादौ और पीरीभीत सै वरेली लादौ।

तौ साऊकार ने अपनी मुँदरी निकारी और वास्सा के वेटा कौ दै दई और कई कि आप मेरे मकान कौ भौत न जाव्र तौ जाव एक वेरा रोज। तौ अपनी साहूकारनी सै

वोले कि वे आवैं और घाम में ठाड़े होन कौ कहें तौ घामें में ठाड़ी रहिऔ। और एक मैना दै गए कि जा मैना कौ दुखी मद्-दीजिऔ। साहूकार रुजगार कौ अपने चले गए। वास्साइ के वेटा खवर भूल गए, कवहू नाअ गए।

जिस दिना साऊकार के वेटा आउन कौ हे उद्-दिना साहूकार के हियाँ गए। तौ डचौढ़ी पै आवाज दई। तौ वाँदी नै देखो तौ कई वास्साइ को वेटा है। पलका कौ झारो विछाओ, (इ)तर फुलेल को छिरकाउ लगाओ। पलका पै वैठार दए। अपने आप पिढ़िआ डार कै हवा कन्न लागी। वास्साइ के वेटा की नियत मै कछु फरक पर गओ। साऊकारनी पल्का पै डार दई। मैना नै कई :—

किस टेरौं और किसै पुकारन जाँउं,
राजा होय विग्गिरै न्याँउ कहाँ कौ जाय।

वास्सा ने कई कि जात की चिरैआ ही तौ वानै इत्ती वात कई, रैयत सुनैगी तौ कित्ती कायगी। वा मुदरिया निकर परी।

साँज कौ साऊकार आए। उन्नै पल्का कौ झारो विछाओ सो वा मुंदरिया देखी। देख कै कई कि साऊकारिनी काम की नाअ रही, विगर गई। वे अपनी वैठक कौ चले गए। साऊकारिनी नै रसोई तैयार करी। वाँदी कौ पठओ, जाउ कै आउ रसोई तैयार है। साऊकार नै कई कि मैं नई खाउंगो। वाँदी नै फिर साऊकारिनी सै कई वे नई आंगे। साऊकारिनी गई सो हात जोड़ कै ठाड़ी भई, पती रसोई तैयार है। उन्नै कई कि मोकौ एक वात को सदमा है। उन्नै कई कि विना वतलाए मोअ क्या मालूम होय। तौ उन्नै कई कि तेरे पिता नैं कई है कि तेरी मैतारी दिक है, जैसी वैठी होय वैठी पनारि आँउ (भेज दूँ)। उसनै कई कि मैतारी करम की साथिन नई है, मैं नई जाऊंगी। साऊकार कई कि मई नाअ कहुंगो तौ गाँउ के कहा जानंगे। तौ उन्नै कई कि नाअ मान्त हौ तौ पनार देओ। उन्नै कई कि घुरे लौ जाउंगो।

सकारे कौ घुरे पै पौंचे और कही तुम चली जाओ। मेरे धीमर और मैं लौट जाउंगो। मकान कौ गई तौ न मैतारी दिक न कोई और। एक दिन दुइ दिन वीते तौ अस्नान कर सोलौ सिंगार करे। सीसा में यूँ देक कै जा रोई। जा नै कई कि—

(देह) दद कंचन, मन रतन, वे नई चूकी अंग,
कौन खता मो सै भई, मोअ विसारो कंत।

तौ लड़की की मैतारी नैं साँझ कौ इसके वाप सै कई, कि वेटी ससुरे की दुखी है। तौ उन्नै कई सवेरे होत जाउंगो। सकारे कौ जे चल दए। साऊकार को वेटा और वास्सा को वेटा पाँसे खेल्त हे। साऊकार नै कई कि एक वाजी में भी खेलुंगो। उन्नै कई अच्छा। तौ इसनै कइ कि

दव कंचन, मन रतन, वे नई चूकी अंग,
कौन खता लड़की भई, वाय विसारो कंत।

तौ साऊकार ने कई कि अव की वाजी मेरी है। तौ कई कि

लाख टका को मुँदरो, कि गढ़िऔ लाख सुनार,
पाओ वन की सेज पै, पानी पिओ न जाय।

तौ वास्सा नैं कई कि मेरे मारे जानैं औरत छोड़ दई। अव की बाजी मेरी। और कई

सैर (शहर) से दूती चली, हियाँ करा वसेरा,

रहा चल्त पंछी समझाओ, पानी पिओ न तेरा।

तई साव नेकी समुज गए। तौं लाए लिवाय कै।

तहसील नवाबगंज,
जिला वरेली

तेजराम कोरी

२

किसान और सिपाही को झगड़ो

किसान तौ छाँट रहो हो दूब, जेठ वैसाख की लू में और पठान बच्चा सिपाही हो, नौकरी सैं आओ हो, सौ रुपै की दीवार (घोड़े) पै चढ़ो जाय रहो हो। तौ उन्नैं कही कि नौकरी सहिज की है, किसानी बड़ी कठिन है। तौ कही

चलो सिपाही वतन सैं, घर सैं चलो किसान।
आपुस में दोऊ जिद मरे, इनके सुनौ वियान॥१॥
उतरे जेठ, असाढ़ जु आये, जाय किसंटू हर ठुकवाये।
वरसो मेहुं, भई हरियायी, वीज खाद साहु सैं लओ।
साउ नें जिन्स काट कै रुपया दए, पैली कित्त (किश्त) मूड़ पै आई।
जा कित्त के कोटा दाम, अव लच कै तुम करौ सलाम।
पकी फसल पै सैना खड़े, भरी साह पै भूकन मरे।
गाय (गहाय) मीज तैयार करो, भुस के गाहक औरं भए।
झाल-लँगोटा ठाड़े भए, वढ़नी लै के घर कों आए।
इतनी वात निभाई सिपाई, जव उठ वोलो मियाँ किसान॥२॥
औ किसान छए में लेटा, हुक्का भर लाओ वेटा।
खटिया विछी विछाई पावै, कॅटिया छोड़ भैंस दुहि लावै।
रोटी मीज दूध में खाय, खूब सोय कै हल लै जाय।
(तुमारी तरैं नाज कि) दुइ रुपिया के नौकर भए।
वरसो मेंह चल दए हाल, सिर के ऊपर रक्खी ढाल।
सिगरी रात गत्त (गश्त) मेंझवौ, तिरिया कों सपनो ना पावौ।
भई रोटी अवै नित खाउ, खवरदार जूतन पै राउ (रहौ)।
इतनी वात निभाई किसान, सिपाई पै सही नाव गई॥३॥
आधी रात सैं फसल चुगारैं, भोर होय तौ हर ठरावैं।
तेरे घर कौ कूमिल लागै, चौकीदार रपट दै आवैं।
तुम पुरी कचौरी कर कर लावौ, हम पलका पै वैठे खाऊ,
भीत नौ इकिर दिकिर करौं।
तेरियै ईख सैं खूँर तुरावैं, तेरेई मूँड़ धरावैं।

मारें बेंतन खाल उड़ावै, जे जे गतैं तेरी करीं किसंटा।
एती वात निभाई सिपाई, किसान पै सई (सही) न गई ।।४।।
इत्तो हुकुम अँगरेजी नाज, जव तुम मू सै काढ़ौ गारी।
तबै भाज बरेली जाँउं, आठाना को कागद लेंउं।
बा पै निसवत लिखाउं, अर्जी जाय मेज पै देउं।
सावित करकै गवा गुजारे, अव देखौ तुम पकड़े ठाड़े।
नाम कटो वेरी भरीं, जे जे गतैं तेरी करीं रे सिपैटा।
इत्ती बात निभाई किसान, सिपाई पैं सई न गई।।५।।
कैद काट जव वनी रिहाई, जाय लई लाहौल (लाहौर) लड़ाई।
मारे तोपन वुर्ज खसाए, किला तोर जप्ती लै आए।
पैंदा खास लट्ठा जीन, अब घोड़े पै रक्खी जीन।
देओ विराने हम चढ़ैं, तुम से गीदड़ घरई मरैं।
इत्ती बात निभाई सिपाई, तौ किसान पै सई न गई।।६।।
मटिआ पूस मिल करि गए कानी, और बन परी किसानी।
सहाँ मैं नाज खूबै भओ, कुठली कुठला सब भर गए।
अब हम गए कर्ज सै छूट, लस्कर आँटे मैंगे भए।
तेरे मुलिक सैं जा लिख आई, बीवी बेंच सुतनिया खाई।।७।।
झकमार सिपाई हारो, सिपाई नै धरो मूट (मूठ) पै हात।
किसान नै लई झपट कै कसी, तौ लौ आय गए चंदन बसैं वारे।
लड़ मर भइया कोइ मित (मत) मरौ, पाँच पच राखिऐ गली।
तौ बन परे की कएँ दोनौं भली।
लेओ खुरपिया करौ नराई, जासै खेती बड़ी कहाई।
वन परे की नौकरिऔ भली है। वन परे की खेतिऔ भली है ।।८।।

गाँव शकरस
तहसील वहेड़ी, जिला वरेली

रांँझे मुराउ

बुलंदशहर

१

एक कोरी हो। सो कंगाल हो। सोई बोलो अपनी वऊ (वहू) तैं वोल्यौ, रोटी पोय दै नौकरी कौ जाउंगौ। वानें तीस रोटी पोई। इन चल दियो रोटी लै कै। हुआँ चोरन कौ थान हो पीपर तरै। चोर आयै चोरी करि कै। ऊ हुआ ई बैठचौ। सोइ चोर नूँ वोले गि कौन सोय रयो ऐ हियाँ। कोरी की एक एक रोटी खाय लई।

रोटिन में झैर (जहर) मिल रयो। ऊ तीसौ खाय कै मर रए हुंअई। उनकी माया लै कै कोरी चल्यौ आयौ गाम कूँ। वऊ सै वोल्यौ अव की रोटी ओर पोय दै फेर जाउंगो। वा की तीस खाँ (तीसमार खां) नाम ह्वै गयो। राजा कै नौकर है गयो। राजा वोल्यौ, तीसखाँ तोय इनाम दुंगो, खूनी हाती है जाय मार दै।

ऊ चल्यौ हातिऐ मारिबै। वाकै पीछै हाती परि गयो। डुग्गे तै रोटी लटकाय कै झट चढ़ गयो। हाती आयो डुग्गे तै रोटी झट मुँह में दै लई। हाती वाँ बैठ गयो। तीसखाँ की नीचे कौ उतरिबे की हिम्मत ना पड़ै। झट एक पोत उतरि कै कोस भर ताँई भाग्यो।

फेर कै आयौ और हाती कौ लात मारी। हाती मरो भयो निकरयो। तीसमार खाँ सैर कौ चल्यौ आयौ। राजा तै बोल्यौ, मैंनें हाती मारयौ हैं, आदमिन कौ भगाय देओ।

दूसरे राजा की फौज आई। तीसमार खाँ नै अंडउअन की रौस ठाड़ी ही, उखाड़ दई। ऊ राजा भाग् गयौ डर के मारे।

२

छोड़े जाए हैं मैंतारी कौ, मोय जनम की दुखियारी कौ।
एक दिन तेरी असवारी कौ सजे खड़े रथ पालकी।
आज मुख में धूर भरे है, सूरत देखै अपने लाल की।
मद्रावत रुदन करे है।
तुझ बिन बेटा ना कोइ कल में, अपने प्रान खोय देउँ पल में,
आज मेरे छौना के गल में, फाँसी पड़ रही काल की।
जाय देखत जीइ डरे है, मद्रावत रुदन करे है॥
सेड़ू सिंघ राम गुन गावैं, रोये सै कछु हाय न आवै।
फूलसिंघ कहै समजावैं, मरजी दीनदयाल की।
जो लिखि दइ नाय टरै है मद्रावत रुदन करै है॥

३

चतर गूजरी ब्रिज की नार, गल सोहै चंदन कौ हार,
मोहनमाला सीस समारे, ददि (दधि) बेंचन जाउँ मथुरा नगरी।
तू काना (कान्हा) आगे तै आवै, झूटे जाल बनावै,
सेकी तौ मारै अपने यार की, चन्द्रावल गूजरी।
हमन नें देखी तेरी आरसी, मेरो काना पाँच बरस कौ,
तू हे रई धींगरी, मेरो काना कछू न जानै, तू जानै सगरी॥

गाँव भैंसरौली,
बुलंदशहर से पूर्व

सिघराम जाट

भरतपुर

चार मुसाफिर अपने घर तें कमाइवे खाइवे कूँ चल दीन्हे। गैल में उनकूँ धन पाय गयौ। दस बीस हजार की जीविका ही। वे बड़े खुसी भये। अब वे चारियूँ कया कहेन लगे कि कल्ल के भूँके हैं कछू इंतजाम करौ। तौ फिर उन में ते द्वै जने गाँव कू खदाए (भेजे), भई तौ लै आओ रोटी, हम दोऊ जने चौकस पै हैं। तौ वे दोऊ जने रोटिन कूँ गए।

अब बिन दोउन नें मनसुआ कियो पीछें तै, कि भाई वे जब तक आमैं जब तक द्व बंदूक लाओ तो वे आमें कहा बिन नैं दूर तै ई झोंक दियौ। बिन दोउन नै मनचला महाँ

(वहाँ) कियौ कि भई तुम लड्डू जहेर के बनाय लै चलौ। इननैं बिनकूँ खवाय देंगे वे दोऊ जने मर रइंगे। तो वा धनै हम तू लै आयेंगे। वे मर रहिंगे। तौ ऐसेई विनने लडडू बनाय कै चल दीन्हे।

तौ बे महाँ जाय के पौछे सो बेड़न नै गोली मार दीन्ही विन जहर के लडडू वारिन मैं। मर गए कहा वे लडडू विनने लै लीन्हे। उनकू खाय कै बे भी दोऊ मर गए चारयौ के चारयौ खतम भए। धन ह्वाँ कौ ह्वाँ ही रह गयौ।

गाँव सैंत, तहसील कुम्हेर
भरतपुर

रामचन्द्र ब्राह्मिन

मथुरा

१

एक मथुरा जी चौवे हे जो डिल्ली (दिल्ली) सहैर कौ चले। तौ पैले रेल तौ ही नई, पैदल रस्ता ही। तौ एक डिल्ली को जो बनिआ हो सो माल लै कै आयो बेचिबे कौं। जव माल बिक गयौ तव खाली गाड़ियै लैकै डिल्ली कौ चलौ। जो सैर के किनारे आयौ सो चौवे जी सै भेंट है गई। तौ वे चौबे बोलें गाड़ीवारे सैं, अरे भैया सेठ कहाँ जायगो, कहाँ गाड़ी है। वौ बोलो, महाराज, मेरी डिल्ली की गाड़ी है, और डिल्ली जाउंगो। तौ कहै, भैया, हमऊँ बैठाल्लेय, चौबे बोले। वनिआ बोलो, चार रुपा लगिंगे भाड़े के। अच्छो भैया चारि दिंगे। अब चुप बैठ गये। तौ वनिआ बोलो, महाराज कुछ बात कहौ जाते रस्ता कटे। तौ वे चौबे जी बोले, हमारी एक बात एक रुपा की है। वाने कही, अच्छो महाराज मैं दुंगो। तौ कई, पैली बात तौ हमारी एई है कि

'सब पंचन मिल कीजै काज, हारे जीते आवै न लाज।'

याय सुनिकै वनियौ बोलौ, महाराज मोय तौ कछु यामैं मजा न आयौ, तुम नै एक रुपा छुड़ाय लियौ। कई रुपा की वात तौ इतनी होय है, फिर तोय सेंत मेंत की सुनामेंगे। तौ कई, महाराज और कुछ कओ। तौ कओ, सेठ तेरो एक रुपा तौ चुको, अव दूसरे रुपा की कएँ। सू दूसरी विन्नैं वात कई कि 'औघट घाट नहियै।' कई, मोय मजा न आयौ। कई, जिजमान मजा की फिर सुनामेंगे, तेरो भाड़ो तौ पूरो कर दें। कई, महाराज अव तीसरी वात कओ। तौ कई, तीसरी वात ये है कि घर में इस्त्री तें साँच न कहे। कई, महाराज चौथियौ कहि देओ। कई, कछु कसूर वन जाय तौ साँच कहे, साँच कौ आँच कहूं नाय। कही, जिजमान तेरो भारो तौ चुक गयो, अब तोय सेंतमेंत सुनावत चलैं। फिर वाय रंग विरंगी वातें सुनावत भए डिल्ली के किनारे तक पौंच गये।

जव डिल्ली द्वै कोस रै गई तव जिजमान को गाँव आयौ सो चौवे जी तौ उतर पड़े। जव कोस भर अगाड़ी और चलो तौ एक गाँव और आयौ अगाड़ी वाते कौ। माँ तै डिल्ली कोस भर रै गई। वा गाओं में कैसी भई कि एक साधू मर गओ तौ। गाव वालिन नैं कहा विचार कियौ कि याकौं जमुना जी में फिकवाय देव तौ याकी मोक्ष है जाय। तौ सव लोग या पैंड़े में ठाड़े कि कोई खाली गाड़ी आय जाय तौ याय डिल्ली भिजवाय देव। इतनेई में जा वनिए की गाड़ी चली आई। तौ गाओं वाले आदमी वोलैं कि तेरी खाली

तौ गाडी हैये, तू या साधू की लै जा, याकी मोक्ष है जायगी। वौ वनिआ वोलो मैं ऐसे इल्जामवाले मुर्दा कौ नई पटकौं। गाओं वाले वोले तोय बड़ो पुन्न हेयगौ, इल्जाम की कहा वात है। तौ मोंय चौवे जी की वात याद आई, 'सव पंचन मिल कीजें काज, हारे जीते आवै न लाज।' तौ मैंने वाकी वैठाल लियौ मेरो कहा विगड़ैगो, धर्म को मामलो है।

जव मैं वाय लैकै चलो तौ मोय दूसरी वात याद आई चौवे जी की कि औघट घाट नैयें। तौ मैं वाय औघट घाट लै गओ जाँ कोई देखै नाय। तौ मैं वाय उठाऊँ तौ उठै नाय। मरे मैं तौ वड़ो वोभ्ह है जाय। सो मैंने डर के मारे हात पांय पकड़ कै खैंची। जो वाकी धोती खुल गई। धोती के खुलत खन सौ असर्फी निकरीं। मैं जान्तो रुप्या हैंगे, निकरी असर्फी। जो मैं नई लाउतो तौ काँ सै निकरतीं। और चौगान कै घाट पै लै जातो तौ सव कोई देखतौ। वाँ काऊ नें नई देखौ। अव मैंने साधू की तौ घसीट कै जमुना जी में फेंक दयौ, और गाड़ी धोय लीनी, और जल्दी के मारे असर्फी की वासनी भूल कै चल दियौ। जव थोड़ी दूर आयौ तौ याद आई कि वासनी तौ ह्वाँ ई छोड़ आयौ। लोट कै आयौ तौ देखौं तौ ह्वाँ ईं धरी। अव मैं वड़ो खुसी होत भयौ घर आयौ।

अव घर मैं आयौ तौ लुगाई सै साँच कै दीनी। सवेरे मैं तौ दूकान पै चलो गयौ और लुगाई सै पार पड़ोस में वात भई तौ वानें कै दीनी कि मेरो धनी एक साधू की सौ असर्फी लायौ है। सो वा वात फैलत फैलत वास्साह के पास जाय पौंची। सो वास्सा नें सेठ कौ पकड़ि वुलायौ। अव सेठ काँपज् जाय और जात जाय। अव जी चौवे जी की चौथी वाँत साँची होयगी तौ वच कै आउंगो। अव वास्साए कै सामने हाजिर भयौ। वास्साह वोलो, ऐं रे वनिया तू कहाँ से लाया, सच कहेगा तौ छोड़ दिया जायगा नहीं तौ मारा जायगा। वनिया वोलो, हजूर मैं सच कहुंगो आप जो चाल सो करना। वानें सगरी कथा कई और कई की मैं काऊ को मार कै नई लायौ, हजूर मोल तौ चौवे जी की वात का फल मिला, अव आप हजूर मालिक हैं। वास्सा वोले, तैंने सच कह दिया जा तेरी मा का दूध है, ले जा।

२

भीजत है जव रीभत है, और धोय धरी सव के मनमानी।
स्वाफी[१] सफा कर, लौंग इलायची घोंट कै त्यार करी रसधानी।
संकर आय विसंवर नें जव व्रम्म कमंडल के जल छानी।
गंग से ऊँची तरंग उठै तव हिर्दे में आवत भंग भवानी॥

वुद्ध कौ गड़ेस, सुध लैवै कौ विधाता, चातुर कौ वाकवानी, थंवन अफीम सी।
जोग काजें रुद्र, वियोग काजें राजा रामचन्द्र, भोग कौ कन्हैआ, सव रोगन कौ नीम सी।
निपट निरंजन कहे विजिया विज्ञान ग्यान, दैवे कौ वल समान, लैवे कौ अतीम[२] सी।
जागवे कौ गोरख, तापिवे कौ धूजी[३], सोयवे कौ कुंभकरन, भोजन कौ भीम सी॥

चौवे गनपत
मथुरा \खिलंदर

---

१ भाँग छानने का अँगोछा
२ शान्ति, ३ ध्रुव जी

(वहाँ) कियौ कि भई तुम लड्डू जहेर के बनाय लै चलौ। इननैं बिनकूँ खबाय देंगे बे दोऊ जने मर रइंगे। तो वा धनै हम तू लै आयेंगे। बे मर रहिंगे। तौ ऐसेई विनने लडडू वनाय कै चल दीन्हे।

तौ बे महाँ जाय के पौछे सो बेड़न नै गोली मार दीन्ही विन जहर के लडडू वारिन में। मर गए कहा वे लडडू विनने लै लीन्हे। उनकू खाय कै बे भी दोऊ मर गए चारयौ के चारयौ खतम भए। धन ह्वाँ कौ ह्वाँ ही रह गयौ।

गाँव सैंत, तहसील कुम्हेर
भरतपुर

रामचन्द्र ब्राह्मिन

मथुरा

१

एक मथुरा जी चौबे हे जो डिल्ली (दिल्ली) सहैर कौ चले। तौ पैले रेल तौ हीं नई, पैदल रस्ता ही। तौ एक डिल्ली को जो बनिआ हो सो माल लै कै आयो बेचिबे कौं। जव माल बिक गयौ तव खाली गाड़ियै लैकै डिल्ली कौ चलौ। जो सैर के किनारे आयौ सो चौवे जी सै भेंट है गई। तौ बे चौबे बोले गाड़ीवारे सै, अरे भैया सेठ कहाँ जायगो, कहाँ गाड़ी है। वौ वोलो, महाराज, मेरी डिल्ली की गाड़ी है, और डिल्ली जाउंगो। तौ कहै, भैया, हमऊँ वैठाल्लेय, चौबे बोले। बनिआ बोलो, चार रुपा लगिंगे भाड़े के। अच्छो भैया चारि दिंगे। अव चुप बैठ गये। तौ बनिआ बोलो, महाराज कुछ वात कहौ जाते रस्ता कटे। तौ बे चौबे जी बोले, हमारी एक वात एक रुपा की है। वाने कही, अच्छो महाराज मैं दुंगो। तौ कई, पैली बात तौ हमारी एई है कि

'सव पंचन मिल कीजै काज, हारे जीते आवै न लाज।'

याय सुनिकै वनियौ बोलौ, महाराज मोय तौ कछु यामैं मजा न आयौ, तुम नै एक रुपा छुड़ाय लियौ। कई रुपा की वात तौ इतनी होय है, फिर तोय सेंत मेंत की सुनामेंगे। तौ कई, महाराज और कुछ कओ। तौ कओ, सेठ तेरो एक रुपा तौ चुको, अव दूसरे रुपा की कएँ। सू दूसरी विन्नैं बात कई कि 'औघट घाट नहियै।' कई, मोय मजा न आयौ। कई, जिजमान मजा की फिर सुनामेंगे, तेरो भाड़ो तौ पूरो कर दें। कई, महाराज अव तीसरी वात कओ। तौ कई, तीसरी वात ये है कि घर मैं इस्त्री तें साँच न कहे। कई, महाराज चौथियौ कहि देओ। कई, कछु कसूर वन जाय तौ साँच कहे, साँच कौ आँच कहूं नाय। कही, जिजमान तेरो भारो तौ चुक गयो, अव तोय सेंतमेंत सुनावत चलैं। फिर वाय रंग विरंगी वातें सुनावत भए डिल्ली के किनारे तक पौंच गये।

जव डिल्ली द्वै कोस रै गई तव जिजमान को गाँव आयौ सो चौवे जी तौ उतर पड़े। जव कोस भर अगाड़ी और चलो तौ एक गाँव और आयौ अगाड़ी वाते कौ। माँ तै डिल्ली कोस भर रै गई। वा गाओं में कैसी भई कि एक साधू मर गओ तौ। गाव वालिन नैं कहा विचार कियौ कि याकौं जमुना जी में फिकवाय देव तौ याकी मोक्ष है जाय। तौ सव लोग या पैंड़े में ठाड़े कि कोई खाली गाड़ी आय जाय तौ याय डिल्ली भिजवाय देव। इतनेई में जा वनिए की गाड़ी चली आई। तौ गाओं वाले आदमी बोलैं कि तेरी खाली

तौ गाडी ह्वैयै, तू या साधू कौ लै जा, याकी मोक्ष ह्वै जायगी। वौ वनिआ वोलो मैं ऐसे इल्जामवाले मुर्दा कौ नईं पटकों। गाओं वाले वोले तोय वड़ो पुन्न ह्वैयगौ, इल्जाम की कहा वात है। तौ मोंय चौवे जी की वात याद आई, 'सव पंचन मिल कीजैं काज, हारे जीते आवै न लाज।' तो मैंनें वाकी वैठाल लियौ मेरो कहा विगड़ैगो, धर्म को मामलो है।

जव मैं वाय लैकैं चलो तौ मोय दूसरी वात याद आई चौवे जी की कि औघट घाट नैयै। तौ मैं वाय औघट घाट लै गओ जाँ कोई देखै नाय। तौ मैं वाय उठाऊँ तौ उठै नाय। मरे में तौ वड़ो वोझ ह्वै जाय। सो मैंनें डर के मारे हात पांय पकड़ कै खैंचौ। जो वाकी धोती खुल गई। धोती के खुलत खन सौ असर्फी निकरीं। मैं जान्तो रुप्या ह्वैंगे, निकरी असर्फी। जो मैं नईं लाउतो तौ काँ सै निकरतीं। और चौगान कै घाट पै लै जातो तौ सव कोई देखतौ। वाँ काऊ नें नईं देखौ। अव मैंने साधू कौ तौ घसीट कै जमुना जी में फेंक दयौ, और गाड़ी धोय लीनी, और जल्दी के मारे असर्फी की वासनी भूल कै चल दियौ। जव थोड़ी दूर आयौ तौ याद आई कि वासनी तौ ह्वाँ ई छोड़ आयौ। लौट कै आयौ तौ देखौं तौ ह्वाँ ईं धरी। अव मैं वड़ो खुसी होत भयौ घर आयौ।

अव घर में आयौ तौ लुगाई सैं साँच कै दीनी। सवेरे में तौ दूकान पै चलो गयौ और लुगाई सै पार पड़ोस में वात भई तौ वानें कै दीनी कि मेरो धनी एक साधू की सौ असर्फी लायौ है। सो वा वात फैलत फैलत वास्साह के पास जाय पौंची। सो वास्सा नें सेठ कौ पकड़ि वुलायौ। अव सेठ काँपज् जाय और जात जाय। अव जौ चौवे जी की चौथी वाँत साँची होयगी तौ वच कै आउंगो। अव वास्साए कैं सामनें हाजिर भयौ। वास्साह वोलो, ऐ रे वनिया तू कहाँ से लाया, सच कहेगा तौ छोड़ दिया जायगा नहीं तौ मारा जायगा। वनिया वोलो, हजूर मैं सच कहुंगो आप जो चाव सो करना। वानैं सगरी कथा कई और कई की मैं काऊ कौ मार कै नईं लायौ, हजूर मोव तौ चौवे जी की वात का फल मिला, अव आप हजूर मालिक हैं। वास्सा वोले, तैंनें सच कह दिया जा तेरी मा का दूध है, ले जा।

२

भीजत है जव रीझत है, और धोय धरी सव के मनमानी।
स्वाफी[1] सफा कर, लौंग इलायची घोंट कै त्यार करी रसधानी।
संकर आय विसंवर नैं जंव व्रम्म कमंडल के जल छानी।
गंग से ऊँची तरंग उठै तव हिर्दै में आवत भंग भवानी॥

वुद्ध कौ गड़ेस, सुध लैवे कौ विधाता, चातुर कौ वाकवानी, थंवन अफीम सी।
जोग काजैं रुद्र, वियोग काजें राजा रामचन्द्र, भोग कौ कन्हैआ, सव रोगन कौ नीम सी।
निपट निरंजन कहैं विजिया विज्ञान ग्यान, दैवे कौ वल समान, लैवे कौ अतीम[2] सी।
जागवे कौ गोरख, तापिवै कौ धूजी[3], सोयवे कौ कुंभकरन, भोजन कौ भीम सी॥

मथुरा

चौवे गनपत
खिलंदर

---

१ भाँग छानने का अँगोछा
२ शान्ति, ३ ध्रुव जी

३

अम्वरीस जो राजा भये हैं सो वड़े प्रतापवारे भये हैं और वड़े भक्त। सो अम्वरीस राजा के यहाँ दुर्वासा रिसि पधारे। सो सौ रिसिन को संग में लैके पधारे। सो राजा वोलो कि वड़ी किरपो करी आपने जो मेरे घर पधारे, सो ह्याँ राजभोग को समैय्या है सो सब रिसिन को लै महाप्रसाद लेयँ। तव रिसी बोले कि हमकौं संझा बन्दन करिवे जानो है सो नजीके कोई तलाव होय सो वताइ दे। इनने कीनीं कि ह्याँ रायसमुद्र पासी (पास ही) भर रह्यो है सो आप भले संझा वन्दन करौ। तव तो ये रिसी जायके संझा वन्दन कियों।

वहुत काल वितीत भयो। वा दिन द्वास्सी को वखत सो वा दिन तेरस आई जाय। सो सबरे पुरानी बोले कि हे महाराज आप कहा देखो हो। दस मिनट जायें हैं तव तेरस आई जायगी, जासू आप द्वास्सी पालन करौ। तो राजा केये (कही) कि महाराज मै द्वास्सी को पालन कैसे करौं। जो रिसिन को न्योतो दै दियो है। विनने कही कि जा वात की चिन्ता नहीं। चरनामृत में तुलसी है जाको पान करो तो द्वास्सी को पालन हे जायगो। विनने पान कर लियो।

इतेक में रिसी आये। विनने कीनी, महाराज आप प्रसाद लै विराजो जो द्वास्सी को दिन है। अरे महाराज तू बड़ो भक्त, तूने रिसिन को न्योतो दियो और पहले प्रसाद ले लियो। राजा ने विनती कीन्ही सो रिसी माने नाँय। उन्ने स्राप दे दियो, सो किरत्या पैदा ह्वै गई। किरत्या की मृत्यू कर दीन्हीं चक्र सुदर्सन ने, और चक्र सुदर्सन विन के पीछे चल्यो। रिसी विस्वनाथ के दरवार में चले गये।

तव महादेव जी बोले कि अम्वरीस के स्राप को मैं झेल नहीं सकों। ऐसे महादेव जी ने दुर्वासा को जवाव दे दियो। ब्रह्मलोक पहुँचे ब्रह्मा जी के पास। विनने हू यही जवाव दियो। अव तौ बिस्नू के पास गये। सो बिस्नू ने आदरपूर्वक रिसिन को बिठायो और सव वार्ता पूछी। दुर्वासा ने सव कथा कही। विस्नू जी वोले जो तू ऐसो काम कियो है तो मेरे पास मत वैठो। उपाय तो यही है कि राजा अम्वरीस के पास जाउ। तो राजा के पास रिसी महाराज पधारे। राजा के कहे से चक्र सुदर्सन जहाँ अस्थान हतो तहाँ जाय विराजे।

राजा ता दिन से अन्न नहीं लियो। तुलसी लेते रहे। तव कही, महाराज वड़ी किरपा करी, सवरे रिसी कहाँ हैं, भोजन को पधारो। दुर्वासा ने याद कीन्हीं तो सव रिसी कछू देर मेई वाहीं उत्पन्न भये। सो खूव प्रीत से भोजन कराये और रिसी वड़े राजी भये। तव राजा ने वाई घड़ी प्रसाद लियो। सो अम्वरीस ऐसे भक्त भये हैं कि उनके समान व्रज भक्त भये हैं।

कन्हैया व्रजवासी, गोकुल

मैनपुरी

१

ती एक नाऊ रहे और एक नाइन रहे। तौ वा नाइन कहो नाइन तै के ए नाऊ तुम बैठे राहत हो, काम धंधो नाव कत्त औ। भोर भओ लैकै पेटी चल दओ। पीँचे जाय गाँओं

में। एक किसान को लड़िका मिलो खेल्त। वाके वार वनाय उठे। वु लड़िका गओ गेऊँ भल्-ल्याओ जाय। नाऊ कौ दै आय। नाऊ घरि पै ले आओ। नाँइन बोली, आज इतने लै आए कल्ल इतने तैं ज्यादा लै आयौ।

तव नाऊ वोलो नाँइन तें, कि नाइन आज पुआ करु। नाँइन नें पुआ करे पाँच। तौ नाऊ हाथ पाँओ धोय कै गओ, कि नाँइन हमैं पस्स दे, हम वार बनाइवे को जात एँ। नाँइन नें दुइ पुआ पस्स दए। तव नाऊ बोलो कि तूनें तीन राखे,मोंय कैसे दुइ पस्से। वाने कही, हमनें करे नाँई। नाऊ वोलो, तूं खा दुइ मोंय तीन दै दे। नाँइन वोली, तूं दुइ खा तीन हम खइहें। नाऊ उठो सो पाँचौ पुआ वेला में वद्‌दए। नाँइन उठी सो सींके पै वद्‌दए। नाऊ उठो सो खटिया सींके के नीचे विछाय लईं। हम तुम दोनी जने परिहें पलिका पै, जोई अगार वोले सोई दुइ खाय, पिछार वोले सो तीन खाय।

अव वे मुट्टुर मुट्टुर दोनौं चितऐं। नाऊ बोलो कि जो हम वोले देत हैं तौ हमै दुइ ए मिल्त हैं, वे तीन खाए जात हैं। नाँइन वोली कि जो हम वोल्त हैं तौ वौ दारीजार तीन खाए लेत है। होत कत्त में दिन चढ़ि गओ। परोसी वोले कि नाऊ ठाकुर नाईं उठे, वजे (वजह) का। आए लरिका। टटिआ खोलि के उनें देखो। उनकीं आँखें टँगी रहीं। वे लरिका हुँअन तैं जात रहे। तौ लौ वे लरिका गए अपने वाप तैं कि वे तौ दोनौं जने मरि गए। कंडा उनके जलाइवे के काज लै गए। उनौन को टटरी वाँध कै लै गए। उन दोनों जनिन की सरंगी रची जाय कै। पाँच जने गए पंच लकड़िआ देन।

तौ पैले नाऊ ठाकुर कौ आगि लगाई। आँच जो लगी नाऊ ठाकुर भाजो। वे हुँअन तैं भाजे, तू ससुरी तीन खा हमें दुइऐ दै दे। वे पाँचो पंच भाजे, दद्दू चलियौ नाय अभई खाए लेत ऐ। नाऊ औ नाइन गए घर पै। नाऊ नैं दुइ खाए, वानें तीन खाए।

गाँव किसनपुर,
मैनपुरी से पूर्व

कोरी लड़का

२

रसिया

ककन तेरी किलिया काँ गिरी रे।
कहाँ गिरी किलिया, कहाँ गिरो ककना,
सिर माथे की वेंदी कहाँ गिरी रे।
वाजार गिरी किलिया, ऊसार (आँगन) गिरो ककना,
सिरमाये की वेंदी सेज गिरी रे।
किन्नै पाई किलिया, किन्नै पाओ ककना,
किन्नै पाई रे, सिर माये की वेंदी किन्नै पाई रे।
सास पाई किलिया, ननद पाओ ककना,
सैंया पाई रे, सिर माये की वेंदी सैंया पाई रे।

कोरी लड़का

३

रसिया मुसल्मानी

धीरे धीरे चले आवौ, परदा हिलने ना पावै।
खाना पकाया मैंने वो आप के लिये,
धीरे धीरे जेंय जाओ, चाँवर गिरने ना पावै।
सिजिआ बिछाई मैंने आप के लियें,
धीरे धीरे चले आवौ, सिजिया हिलने ना पावै॥

गाँव गढ़िया,
मेनपुरी के उत्तर में

रैदास लड़का

शाहजहाँपुर

एक गरीब वुढ़िया हती। उसको एक लड़का सेकचिल्ली हतो। बह बुढ़िया बहुत गरीब हती। वाके लड़िका ने कहो कि अम्मा हम खेती करिअइँ। अम्मा ने कही, लल्ला खेती मति करउ। तौ सेकचिल्ली नें अम्मा की एकउ नाँइ मानी।

तौ सेकचिल्ली नें एक खेत लओ। तौ साँज कउ कही अपनी अम्मा से कि हम चना वुइहइं औ भुंजे वुइअइँ। तौ उसके परोसी जो रहइं सो सुन्त रहे जा वात। तौ परोसी नें कई कि हमऊँ भुंजे चना वुइअइं। औ चुप्पा से कहि दई क्ति छँटाकै भर भुँजिअउ। परोसी के खेत जादा रहइ। तौ उन्नइं कही कि तुमउं भूंज लेउ दस पन्द्रा मन। सेकचिल्ली सवेरे गए, अपने साथिन का लै गए औ भुंजे चना चवाइ आए। और दूसरो जो परोसी रहै वइ (वे) गए सो भुंजे वइ आए। वइ जमे नाँईं। और दूसरे को खेत रहाय।

सेकचिल्ली ने अपनी महतारी से कही कि अम्मा चना खूब जमे घर के खेत माँ। तउ अम्मा नें कई कि साग नाँईं लइअउ। तौ सेकचिल्ली नइ कई कि चलउ तुमैं खेत मै वैठार देव, नोच लइअउ साग। तौ अपनी अम्मा का खेत में बैठार दओ। खेतवाले नै मारो। अम्मा रोउती घरइ आँईं। सेकचिल्ली नै कई कि पंचाइत करइऐं, खेत घरहैं को है, मारो काय कौ। अम्मा सें कई कि खेत माँ दहला खोद अइऐं तुमैं उसमां गार अइऐं। तौ अम्मा नें कई कि हम नाईं गड़न जइऐं, चाँउ खेत मिलै चाँउँ नाईं मिलै।

सेकचिल्ली नै साँज को पंचाइत जमा करी अउर अपनी अम्मा का खेत माँ वैठारि आए और सिखाय दओ कि खेत वारे आवैं तौ पूंछें कि खेत खेत तुम कहि को खेत, तौ तुम कहि दीजो कि हम सेकचिल्ली के खेत। तौ वह (वे) लोग आए खेत तीरा। एक नें पूंछो कि खेत खेत तुम कहि को खेत, तौ कही हम सेकचिल्ली को खेत। तौ सेकचिल्ली को पंचन नै दिवाओ खेत। फिर महतारी कउ खोद लाए।

गाँव सदमा, तहसील पुवाँयाँ
शाहजहांपुर के २० मील उत्तर-पूर्व

शब्दानुक्रमणी

अंक अनुच्छेद के द्योतक हैं

मारैं बेंतन खाल उड़ावैं, जे जे गतैं तेरी करीं किसंटा।
एती वात निभाई सिपाई, किसान पै सई (सही) न गई॥४॥
इत्तो हुकुम अँगरेजी नाव, जव तुम मू सैं काढ़ौ गारी।
तवै भाज वरेली जाँउं, आठाना को कागद लेंउं।
वा पै निसवत लिखाउं, अर्जी जाय मेज पै देउं।
सावित करकै गवा गुजारे, अव देखौ तुम पकड़े ठाड़े।
नाम कटो वेरी भरीं, जे जे गतैं तेरी करीं रे सिपैटा।
इत्ती वात निभाई किसान, सिपाई पै सई न गई॥५॥
कैद काट जव वनी रिहाई, जाय लई लाहौल (लाहौर) लड़ाई।
मारे तोपन वुर्ज खसाए, किला तोर जप्ती लै आए।
पैंदा खास लट्ठा जीन, अव घोड़े पै रक्खी जीन।
देखो विराने हम चढ़ैं, तुम से गीदड़ घरई मरैं।
इत्ती वात निभाई सिपाई, तौ किसान पै सई न गई॥६॥
मटिआ पूस मिल करि गए कानी, और वन परी किसानी।
सहाँ में नाज खूवै भओ, कुठली कुठला सव भर गए।
अव हम गए कर्ज सैं छूट, लस्कर आँटे मेंगे भए।
तेरे मुलिक सैं जा लिख आई, वीवी वेंच सुतनिया खाई॥७॥
झक्कमार सिपाई हारो, सिपाई नै धरो मूट (मूठ) पै हात।
किसान नै लई झपट कैं कसी, तौ लौ आय गए चंदन वसैं वारे।
लड़ मर भइया कोइ मित (मत) मरौ, पाँच पच राखिऐ गलौ।
तौ वन परे की कएँ दोनौं भली।
लेओ खुरपिया करौ नराई, जासैं खेती वड़ी कहाई।
वन परे की नौकरिओ भली है। वन परे की खेतिओ भली है॥८॥

गाँव शकरस
तहसील वहेड़ी, जिला वरेली

राँझे मुराउ

बुलंदशहर

१

एक कोरी हो। सो कंगाल हो। सोई वोलो अपनी वऊ (वहू) तें वोल्यौ, रोटी पोय दै नौकरी को जाउंगो। वानें तीस रोटी पोईं। इन चल दियो रोटी लै कै। हुआँ चोरन कौ थान हो पीपर तरें। चोर आये चोरी करि कै। ऊ हुआ ई वैठ्यौ। सोइ चोर नूं वोले गि कौन सोय र्‌यो ऐ हियाँ। कोरी की एक एक रोटी खाय लई।

रोटिन में भेर (जहर) मिल र्‌यो। ऊ तीसों खाय कै मर गए हुंअई। उनकी माया ले कै कोरी चल्यौ आयौ गाम कूं। वऊ सै वोल्यौ अव की रोटी और पोय दै फेर जाउंगो। वा को तीस मार खाँ (तीसमार खाँ) नाम ह्वै गयो। राजा कै नौकर है गयो। राजा वोल्यौ, तीसमारखाँ तोय इनाम दुंगो, खूनी हाती है जाय मार दै।

३

रसिया मुसल्मानी

धीरे धीरे चले आवौ, परदा हिलने ना पावे।
खाना पकाया मैंने बो आप के लिये,
धीरे धीरे जेंय जाओ, चाँवर गिरने ना पावै।
सिजिआ विछाई मैंने आप के लियें,
धीरे धीरे चले आवौ, सिजिया हिलने ना पावै॥

गाँव गढ़िया,
मैनपुरी के उत्तर में

रैदास लड़का

शाहजहाँपुर

एक गरीब वुढ़िया हती। उसको एक लड़का सेकचिल्ली हतो। बह बुढ़िया बहुत गरीव हती। वाके लड़िका ने कहो कि अम्मा हम खेती करिअइँ। अम्मा ने कही, लल्ला खेती मति करउ। तौ सेकचिल्ली नें अम्मा की एकउ नाँइ मानी।

तौ सेकचिल्ली नें एक खेत लओ। तौ साँज कउ कही अपनी अम्मा से कि हम चना वुइहइं. औ भुंजे वुइअइँ। तौ उसके परोसी जो रहइं सो सुन्त रहे जा वात। तौ परोसी नें कई कि हमऊँ भुंजे चना वुइअइं। औ चुप्पा से कहि दई कि छँटाकै भर भुंजिअउ। परोसी के खेत जादा रहइ। तौ उन्नइं कही कि तुमउं भूंज लेउ दस पन्घा मन। सेकचिल्ली सवेरे गए, अपने साथिन का लै गए औ भुंजे चना चवाइ आए। और दूसरो जो परोसी रहै. बइ (वे) गए सो भुंजे वइ आए। वइ जमे नाँईं। और दूसरे को खेत रहाय।

सेकचिल्ली ने अपनी महतारी से कही कि अम्मा चना खूब जमे घर के खेत माँ। तउ अम्मा नें कई कि साग नाँई लइअउ। तौ सेकचिल्ली नइ कई कि चलउ तुमैं खेत मैं वैठार देव, नोच लइअउ साग। तौ अपनी अम्मा का खेत में वैठार दओ। खेतवाले नै मारो। अम्मा रोउती घरइ आँईं। सेकचिल्ली नै कई कि पंचाइत करइएँ, खेत घरहैं को है, मारो काय को। अम्मा सैं कई कि खेत माँ दहला खोद अइएँ तुमैं उसमां गार अइएँ। तौ अम्मा नें कई कि हम नाई गड़न जइएँ, चाँउ खेत मिलै चाँउँ नाई मिलै।

सेकचिल्ली नै साँज को पंचाइत जमा करी अउर अपनी अम्मा का खेत माँ वैठारि आए ओर सिखाय दओ कि खेत वारे आवें तौ पूंछें कि खेत खेत तुम कहि को खेत, तौ तुम कहि दीजो कि हम सेकचिल्ली के खेत। तौ वह (वे) लोग आए खेत तीरा। एक नें पूंछी कि खेत खेत तुम कहि को खेत, तौ कही हम सेकचिल्ली को खेत। तौ सेकचिल्ली को पंचन नै दिवाओ खेत। फिर महतारी कउ खोद लाए।

गाँव अदमा, तहसील पुवांयाँ
शाहजहांपुर के २० मील उत्तर-पूर्व

शब्दानुक्रमणी

अंक अनुच्छेद के द्योतक हैं